इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MSK 001

संस्कृत साहित्यशास्त्र एवं साहित्य

खंड

3

साहित्यशास्त्र – साहित्यदर्पण (षष्ठ परिच्छेद) – भाग 2

खण्ड 3 का परिचय

MSK-001 'संस्कृत साहित्यशास्त्र एवं साहित्य' पाठ्यक्रम का यह तृतीय खण्ड है। इस खण्ड में आप आचार्य विश्वनाथ प्रणीत साहित्यदर्पण ग्रन्थ के षष्ठ परिच्छेद में वर्णित विषयों का अध्ययन करेंगे।

'साहित्यशास्त्र : साहित्यदर्पण (षष्ठ परिच्छेद)' नामक इस खण्ड में पाँच इकाइयाँ है। प्रथम इकाई रूपक एवं उसके भेदों से सम्बन्धित हैं। इसमें रूपक के भेदों यथा नाटक, प्रकरण, भाण आदि के साथ 18 उपरूपकों को भी लक्षण एवं उदाहरण के साथ स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय इकाई में नाटक के अंगों यथा नान्दी, प्रस्तावना, जनान्तिक, अपवारित, सूत्रधार आदि पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय इकाई में अर्थोपक्षेपकों– विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका आदि, अर्थप्रकृतियों बीज, बिन्दु, पताका आदि, कार्यवस्थाओं– आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा आदि पर प्रकाश डाला गया है।

पाठ्यक्रम की चौथी इकाई पंचसन्धियों से सम्बन्धित है। इस इकाई में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निवर्हण सन्धि को उसके अंगों के साथ वर्णित किया गया है। पाँचवीं इकाई काव्य एवं उसके भेद से सम्बन्धित है जिसमें महाकाव्य, खण्डकाव्य, गद्यकाव्य आदि को उनके लक्षणों के साथ प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 11 रूपक एवं उसके दशविध भेद

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- रूपक और उपरूपक में पारस्परिक अन्तर कर सकेंगे।
- रूपक और उपरूपक को पढ़ने की प्रवृत्ति का विकास कर सकेंगे।

- रूपक और उपरूपक के लक्षणों से परिचित होंगे।
- लक्षणों में प्रयुक्त कतिपय पारिभाषिक शब्दों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

विश्वनाथ 'कविराज' ने साहित्यदर्पण नामक लोकप्रिय ग्रन्थ में काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के अनेक विषयों का सरलरीति से विवेचन किया है। विश्वनाथ 'कविराज' ने साहित्यदर्पण के छठें परिच्छेद में नाट्यशास्त्र के विभिन्न विषयों पर चर्चा की है जिसमें रूपक और उपरूपक मुख्य हैं। अभी तक आप काव्य का उत्तम, मध्यम और अधम भेद में विभाजन होने से परिचित थे किन्तु काव्य का विभाजन अन्य प्रकार से भी होता है, जैसे– दृश्य और श्रव्य की दृष्टि से काव्य का विभाजन। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य हैं। 'श्रोतुं योग्यं श्रव्यम्' अर्थात् जो सुनने योग्य हो उसे श्रव्य काव्य कहा जाता है, ध्वनिकाव्य एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य को हम अपने कानों द्वारा सुन सकते हैं, अतः इन्हें श्रव्यकाव्य कहा जाता है।

दृश्यकाव्य के अन्तर्गत अभिनयप्रधान काव्य आते हैं। 'द्रष्टुं योग्यं दृश्यम्' अथवा 'दर्शनीयप्रधानं दृश्यम्' जो देखने योग्य हो वह दृश्यकाव्य होता है। प्रस्तुत इकाई के माध्यम से आप दृश्य काव्य के भेदों का अध्ययन करेंगे।

11.2 रूपक

साहित्यदर्पण ग्रन्थ के लेखक विश्वनाथ 'कविराज' दृश्य और श्रव्य भेद से काव्य के दो भेद मानते हैं। इसमें जो श्रव्य काव्य है वह ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद में विभक्त है, पूर्व इकाइयों में आप इन भेदों का अध्ययन कर चुके हैं। दृश्य काव्य के बारे में ज्ञान प्राप्त करना शेष है। अतः इस इकाई के माध्यम से आप दृश्यकाव्य के समग्र भेदों से परिचित होंगे। विश्वनाथ 'कविराज' दृश्यकाव्य की अवतारणा में कहते हैं –

एवं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन काव्यस्य भेदद्वयमुक्त्वा पुनर्दृश्यश्रव्यत्वेन भेदद्वयमाह –

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।

अर्थात् ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप में काव्य के दो भेद करके अब दृश्य और श्रव्य नाम से काव्य का दो भेद बताया जा रहा है।

दृश्य और श्रव्य भेद से काव्य दो प्रकार का होता है।

इसके बाद विश्वनाथ 'कविराज' दृश्यकाव्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि–

दृश्यं तत्राभिनेयम् –

अर्थात् जिस काव्य में अभिनय के द्वारा कथ्य एवं विविध भावों का प्रकाशन किया जाता है अथवा किसी पात्रविशेष के चरित का अभिनय के द्वारा प्रकाशन किया जाता है, उसे दृश्य काव्य कहते हैं।

अभिनयप्रधान काव्य को रूपक कहा जाता है, दृश्यकाव्य के लिए 'रूपक' संज्ञा क्यों गढ़ी गई? इस बात को समझाने के लिए विश्वनाथ 'कविराज' कहते हैं –

तस्य रूपकसंज्ञाहेतुमाह–

तद्रूपारोपात्तु रूपकम्।।1।।

तद् दृश्यं काव्यं नटे रामादिस्वरूपारोपाद्रूपकमित्युच्यते।

तत् अर्थात् वह दृश्यकाव्य, रामादि पूर्व नायकों/चरितों के रूप का नट में आरोप किए जाने के कारण रूपक कहलाता है। चूँकि नट अन्य युग में जन्म/अवतार लेने वाले पात्रों/चरितों के रूप और उनके सर्वविध व्यवहारों का अपने में आरोप करता है, अतः रूप का आरोप करने से इसकी 'रूपक' संज्ञा उचित है।

पूर्व में बताया गया कि दृश्यकाव्य अभिनय के द्वारा प्रदर्शित होता है, अतः जिज्ञासा उठती है कि अभिनय किसे कहते हैं? इस जिज्ञासा की शान्ति विश्वनाथ कविराज अभिनय-स्वरूप के निरूपण से करते हैं –

कोऽसावभिनय इत्याह –

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः।

आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा।।2।।

विविध (रामादि अभिनेय चरितों की) विविध अवस्था का अनुकरण करना अभिनय कहलाता है, यह अवस्था-अनुकरण चार प्रकार का होता है– 1) आङ्गिक (केवल अङ्ग द्वारा विहित), 2) वाचिक (वाणी द्वारा विहित), 3) आहार्य (वेष-भूषा द्वारा विहित), 4) सात्त्विक (मनोभाव के प्रदर्शन द्वारा विहित)।

11.3 रूपक के भेद

रूपक काव्य के नामकरण की उपपत्ति/सार्थकता/औचित्य दिखलाने के पश्चात् विश्वनाथ 'कविराज' अब रूपक के भेदों का निरूपण करते हैं–

रूपकस्य भेदानाह–

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।

ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।3।।

रूपक के दस भेद हैं – 1) नाटक, 2) प्रकरण, 3) भाण, 4) व्यायोग, 5) समवकार, 6) डिम, 7) ईहामृग, 8) अङ्क, 9) वीथी, 10) प्रहसन।

इन दस रूपकों के साथ विश्वनाथ कविराज अट्ठारह उपरूपकों का निरूपण करते हैं –

किञ्च

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।

प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा।।4।।

संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका।

दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च।।5।।

अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।

विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्।।6।।

1) नाटिका, 2) त्रोटक, 3) गोष्ठी, 4) सट्टक, 5) नाट्यरासक, 6) प्रस्थान, 7) उल्लाप्य, 8) काव्य, 9) प्रेंखण, 10) रासक, 11) संल्लापक, 12) श्रीगदित, 13) शिल्पक, 14) विलासिका, 15) दुर्मल्लिका, 16) प्रकरणी, 17) हल्लीश, 18) भाणिका। इन नाटिकादि उपरूपकों का लक्षण प्रायः (अभी बताये जाने वाले) नाटक लक्षण से मिला-जुला होता है।

11.3.1 नाटक

अब विश्वनाथ 'कविराज' रूपकभेदों में प्रथम नाटक का लक्षण बताते हैं –

तत्र

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्।

विलासदर्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः।।7।।

सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम्।

पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः।।8।।

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।

दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान् नायको मतः।।9।।

एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः।।10।।

चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः।

गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्।।11।।

नाटक की कथावस्तु प्रसिद्ध होनी चाहिए, वह (मुख प्रतिमुख आदि) पाँच सन्धियों से युक्त हो, वह नायक के विलास, अभ्युदय आदि गुणों से युक्त हो, नायक की विभूति अर्थात् अभ्युदय जिस-जिस कृत्य से होता हो नाटक उससे युक्त होता है। नाटक सुख और दुःख से उत्पन्न होता है (जो पात्रों के चरितों से व्यक्त होता है) तथा यह शृंगार, वीर आदि अनेक रसों से निरन्तर युक्त रहता है। नाटक में पाँच अंक से लेकर दस अंक होते हैं, अर्थात् नाटक का अंक पाँच से कम नहीं और दस से अधिक नहीं होना चाहिए। नाटक का नायक (रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में) प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न होने वाला राजर्षि होता है, यहाँ राजर्षि में प्रयुक्त 'ऋषि' पद से अभिप्राय राजा के भीतर ऋषियों में रहने वाले दया, दाक्षिण्य आदि गुणों से युक्त होने से है। नाटक का नायक धीरोदात्त हो और प्रतापी हो। नाटक का नायक गुणवान् होता है तथा वह दिव्य अथवा दिव्यादिव्य– दोनों हो सकता है। नाटक में एक ही प्रधान रस होता है चाहे वह शृंगाररस हो अथवा वीर (इसी तरह करुण आदि) रस। यदि नाटक में प्रधान रस के अलावा दूसरे रस आते हैं तो वे प्रधान रस के प्रति अंगभाव प्राप्त कर लेते हैं, इस तरह नाटक में रसों का निर्वाह अद्भुत प्रकार से होना चाहिए। नाटक में (कथावस्तु के निर्वाह और कथावस्तु को रोचक बनाने की दृष्टि से) चार

या पाँच मुख्य पात्र होते हैं तथा नाटक के अंक गाय की पूँछ के अग्रभाग की तरह होते हैं, जैसे गाय की पूँछ के अग्रभाग के कुछ बाल बड़े होते हैं और कुछ छोटे उसी तरह नाटक में कोई अंक छोटा और कोई बड़ा हो सकता है।

अब नाटक के उक्त लक्षण में आये कुछ पारिभाषिक शब्दों को समझाने की दृष्टि से विश्वनाथ 'कविराज' वृत्ति लिखते हैं–

ख्यातं रामायणादिप्रसिद्धं वृत्तम्। यथा– रामचरितादि। सन्धयो वक्ष्यन्ते। नानाविभूतिभिर्युक्तमिति महासहायम्। सुखदुःखसमुद्भूतत्वं रामयुधिष्ठिरादिवृत्तान्तेष्वभियुक्तम्। राजर्षयो दुष्यन्तादयः। दिव्याः, श्रीकृष्णादयः। दिव्यादिव्यः, यो दिव्योऽप्यात्मनि नराभिमानी। यथा श्रीरामचन्द्रः।

नाटक में 'ख्यातवृत्त' से अभिप्राय वृत्त के रामायण, महाभारत आदि पौराणिक ग्रन्थों में उल्लेख के होने से है जैसे– रामचरित आदि। क्योंकि राम का वृत्त रामायण आदि लोकप्रसिद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध है अतः ऐसे पात्र को नाटक का नायक बनाया जाता है। 'पञ्चसन्धिसमन्वितम्' में जो सन्धि पद का प्रयोग है, उसके लिए विश्वनाथ ने 'सन्धयो वक्ष्यन्ते' लिखा है, अर्थात् सन्धियों का निरूपण ग्रन्थ में आगे किया जाएगा, इसलिए विश्वनाथ ने नाटक के लक्षण के अवसर पर सन्धियों को स्पष्ट नहीं किया है। 'युक्तं नानाविभूतिभिः' से तात्पर्य नायक के साथ उसके सहायक के रूप में योग्य चरितों के होने से है। 'सुखदुःखसमुद्भूति' से तात्पर्य 'सुखदुःखसमुद्भूतत्वं रामयुधिष्ठिरादिवृत्तान्तेष्वभिव्यक्तम्' से है अर्थात् राम युधिष्ठिर आदि पात्रों के वृत्तान्त में सुख-दुःख की उत्पत्ति होती रहती है। नाटक में नायक राजर्षि होता है, यह राजर्षि कौन है? तो विश्वनाथ ने 'राजर्षयो दुष्यन्तादयः' बतलाया है। 'दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो' में 'दिव्याः श्रीकृष्णादयः' अर्थात् दिव्यनायक जो समस्त ईश्वरीय शक्तियों सिद्धियों से युक्त हो। दिव्य नायक का उदाहरण मुख्यरूप से श्रीकृष्ण हैं, हनुमान् को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है । दिव्य-अदिव्य से तात्पर्य जो नायक दिव्य (स्वर्गस्थानीय) होता हुआ भी नर की मर्यादा के अनुसार लोक में व्यवहार करे जैसे राम, क्योंकि राम विष्णु का अवतार होने से साक्षात् देव हैं किन्तु लोक में उन्होंने दैवीय शक्तियों का उपयोग नहीं किया, हमेशा उन्होंने आदर्श-मनुष्य के रूप में जीवन जिया है अतः राम दिव्य-अदिव्य नायक हैं।

नाटक के अंक कैसे होने चाहिए? इस विषय में अनेक मतभेद हैं जिसे विश्वनाथ 'कविराज' ने निम्न रूप में व्यक्त किया है–

गोपुच्छाग्रसमाग्रमिति 'क्रमेणाङ्काः सूक्ष्माः कर्तव्याः' इति केचित्। अन्ये त्वाहुः – 'यथा गोपुच्छे केचिद्बाला ह्रस्वाः केचिद् दीर्घास्तथेह कानिचित् कार्याणि मुखसन्धौ समाप्तानि कानिचित् प्रतिमुखे। एवमन्येष्वपि कानिचित् कानिचित्' इति।

अर्थात् कुछ विचारकों के मत के अनुसार नाटक में अंक क्रमशः छोटा होता जाता है, जबकि कुछ लोगों का कहना है कि जैसे गाय के पूँछ में कुछ बाल छोटे और कुछ बड़े होते हैं उसी तरह नाटक का कुछ कथ्य मुखसन्धि में समाप्त हो जाता है तो कुछ प्रतिमुखसन्धि में, और कुछ गर्भसन्धि में तो कुछ विमर्शसन्धि में और कुछ निर्वहणसन्धि में समाप्त हो जाता है।

11.3.2 प्रकरण

रूपक के प्रथम भेद नाटक के लक्षण का निरूपण करने के बाद क्रमप्राप्त रूपक के द्वितीय भेद प्रकरण का लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है –

अथ प्रकरणम्

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।।224।।

शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्।

सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः।।225।।

प्रकरण का वृत्त लौकिक तथा कविकल्पित दोनों हो सकता है। प्रकरण श्रृंगाररस प्रधान होता है। प्रकरण का नायक विप्र, अमात्य और वणिक् तीनों हो सकते हैं। प्रकरण का नायक धर्म, अर्थ और काम के सेवन में निरन्तर उद्यत रहता है, तथा प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त प्रकृति का होता है।

विप्रनायकं यथा मृच्छकटिकम्। अमात्यनायकं मालतीमाधवम्। वणिङ्नायकं पुष्पभूषितम्।

इसमें विप्र नायक वाले प्रकरण का उदाहरण 'मृच्छकटिकम्' है। अमात्यनायक वाले प्रकरण का उदाहरण 'मालतीमाघवम्' है। वणिक् नायक वाले प्रकरण का उदाहरण 'पुष्पभूषित' है।

नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्।

तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः।।226।।

कितवद्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः।

कुलस्त्री पुष्पभूषिते। वेश्या तु रङ्गवृत्ते। द्वे अपि मृच्छकटिके। अस्य नाटकप्रकृतित्वाच्छेषं नाटकवत्।

प्रकरण का नायक जैसे विप्र, अमात्य और वणिक् हो सकता है वैसे ही इसकी नायिका में भी भेद देखा जाता है, प्रकरण की नायिका कहीं कुलजा (अच्छे कुल में जन्म लेने वाली) कहीं वेश्या और कहीं दोनों अर्थात् कुलजा और वेश्या होती है।

विश्वनाथ 'कविराज' ने इन तीनों प्रकार की नायिका वाले प्रकरण का उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमें कुलस्त्री नायिका वाले प्रकरण का उदाहरण 'पुष्पभूषित' है, वेश्या नायिका वाले प्रकरण का उदाहरण 'रङ्गवृत्त' है इसी तरह कुलस्त्री और वेश्या इन दोनों नायिकाओं से बने प्रकरण का उदाहरण 'मृच्छकटिकम्' है।

प्रकरण की प्रकृति भी प्रायः नाटक की तरह है, अतः इसका शेष लक्षण नाटक के लक्षण के अनुसार ही समझना चाहिए।

11.3.3 भाण

इसके बाद विश्वनाथ 'कविराज' दृश्यकाव्य के भाण नामक रूपक का लक्षण करते हैं –

भाणः स्याद् धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः।।227।।

एकाङ्क एव एवात्र निपुणः पण्डितो विटः।

रङ्गे प्रकाशयेत् स्वेनानुभूतमितरेण वा।।228।।

संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः।

सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः।।229।।

तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती।

मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च।।230।।

भाण में धूर्तों, चोरों और द्यूतकार आदि के चरित्रों का चित्रण रहता है, तथा इसमें नाना प्रकार की अवस्था का वर्णन हुआ करता है। **'भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाश्यते इति भाणः'** अर्थात् नायक के द्वारा आकाश को लक्ष्य करके स्ववृत्त तथा परवृत्त का प्रकाशन करना 'भाण' कहलाता है। भाण एक अंक वाला होता है, इसका नायक कार्य में दक्ष विट होता है और वह मंच पर अपनी अनुभूति अथवा दूसरे की अनुभूति का प्रकाशन करता है। भाण का नायक विषय परिचय के प्रसंग में आकाशभाषित आदि के माध्यम से किसी को सम्बोधित कर उक्ति-प्रत्युक्ति (प्रश्नोत्तर) करता है। इसमें शौर्य और सौभाग्य के वर्णन से वीर और शृंगार रस व्यक्त होते हैं। भाण की कथावस्तु कविकल्पित होती है, और इसमें प्रायः भारती वृत्ति का प्रयोग रहता है। भाण मुखसन्धि और निर्वहणसन्धि वाला होता है तथा यह दस लास्य (गेयपद आदि पूर्वनिर्दिष्ट) से युक्त रहता है।

अत्राकाशभाषितरूपपरवचनमपि स्वयमेवानुवदन्नुत्तरप्रत्युत्तरे कुर्यात्। शृङ्गारवीररसौ च सौभाग्यशौर्यवर्णनया सूचयेत्। प्रायेण भारती, क्वापि कैशिक्यपि वृत्तिर्भवति। लास्याङ्गानि गेयपदादीनि। उदाहरणं लीलामधुकरः।

यहाँ आकाशभाषित योजना करने का यह रहस्य है कि भाण का विटनायक मंच पर किसी अन्य पात्र के न रहने पर भी उसकी उक्ति की कल्पना करके उत्तर-प्रत्युत्तर दिया करता है, जिससे लगता है कि कोई दूसरा पात्र भी है। सौभाग्य और शौर्य का वर्णन होने से स्वतः ही शृंगार और वीर रस व्यक्त हो जाते हैं। इसमें प्रायः भारती वृत्ति रहती है पर कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति भी देखी जाती है। इसमें समस्त गेयपद स्थितपाठ्य आदि लास्यांग विद्यमान रहते हैं। भाण का उदाहरण 'लीलामधुकर' है।

11.3.4 व्यायोग

अब विश्ननाथ 'कविराज' व्यायोग का लक्षण करते हैं –

अथ व्यायोगः –

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः।

हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः।।231।।

एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः।

कैशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः।। 232।।

राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः।

हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः।।233।।

यथा सौगन्धिकाहरणम्।

व्यायोग का इतिवृत्त प्रसिद्ध रहता है, इसमें स्त्री पात्रों की न्यूनता रहती है। यह गर्भसन्धि और विमर्शसन्धियों से हीन रहता है तथा व्यायोग में पुरुष पात्रों का बाहुल्य और प्राधान्य रहता है। व्यायोग में एक अंक होता

है, इसमें ऐसे युद्ध का उदय होता है जिसका निमित्त स्त्री नहीं रहती, इसमें कैशिकी वृत्ति नहीं होती, व्यायोग का नायक प्रख्यात होता है। इसका नायक कोई प्रख्यात राजर्षि होता है अथवा कोई दिव्य पुरुष (देवयोनि का), व्यायोग का नायक धीरोद्धत प्रकृति का होता है। इसमें हास्य, श्रृंगार और शान्त रस में से कोई भी रस प्रधान हो सकता है और दूसरे रस अंग होते हैं। व्यायोग का उदाहरण 'सौगन्धिकाहरणम्' है।

11.3.5 समवकार

व्यायोग के लक्षण का निरूपण करके विश्वनाथ 'कविराज' दृश्यकाव्य के पाँचवे भेद समवकार नामक रूपक के लक्षण का उपस्थापन करते हैं–

अथ समवकारः –

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम्।

सन्धयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे।।234।।

सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः।

नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः।।235।।

फलं पृथक्पृथक्तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः।

वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ।।236।।

वीथ्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश।

गायत्र्युष्णिङ्मुखान्यत्र च्छन्दांसि विविधानि च।।237।।

त्रिश‍ृङ्गारस्त्रिकपटः कार्यश्चायं त्रिविद्रवः।

वस्तु द्वादशनालीभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम्।।238।।

द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके।

समवकार का वृत्त रामायण पुराणादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध होता है तथा वह देवताओं और राक्षसों से सम्बद्ध होता है। इसमें विमर्शसन्धि नहीं रहती। समवकार में तीन अंक होते हैं। समवकार के पहले अंक में प्रारम्भिक दो सन्धियाँ– मुखसन्धि और प्रतिमुखसन्धि रहती है, दूसरे अंक में गर्भसन्धि तथा अन्तिम अर्थात् तीसरे अंक में निर्वहणसन्धि की योजना रहती है। समवकार में बारह नायकों का चरित्र चित्रित रहता है। इसके नायक दिव्य और अदिव्य अर्थात् देव-मनुष्य होते हैं जो अत्यन्त प्रख्यात होने से धीरोद्धात प्रकृति के होते हैं। समवकार रूपक में जो बारह नायक होते हैं, उनका प्रयोजन पृथक्-पृथक् होता है अर्थात् सभी नायक किसी एक प्रयोजन के लिए कार्य नहीं करते। इसमें वीर रस प्रधानरूप में होता है तथा अन्य रस अप्रधान रहते हैं। इसमें समस्त वृत्तियों का समावेश होता है किन्तु कैशिकी वृत्ति का प्रयोग अत्यल्प मात्रा में रहता है। समवकार में बिन्दु और प्रवेशक की योजना नहीं होती। समवकार में प्रसंगानुसार अथवा उपयोगितानुसार तेरह वीथी-अंगों का प्रयोग होता है। इसके आरम्भ में छः अक्षरों वाले गायत्री छन्द तथा सात अक्षरों वाले उष्णिक् छन्द का प्राधान्यतः प्रयोग होता है, तथा इसमें दूसरे भी छन्दों का प्रयोग होता है। समवकार में त्रिश्रृंगार, त्रिकपट और त्रिविद्रव का प्रयोग होता है। इसके प्रथम अंक का इतिवृत्त अर्थात्

विषयवस्तु 24 घड़ी में समाप्त कर देना चाहिए। समवकार के दूसरे अंक का इतिवृत्त आठ घड़ी में तथा तीसरे अंक की विषयवस्तु को चार घड़ी में पूर्ण कर देना आवश्यक है।

ऊपर कारिका में जो नालिका पद का प्रयोग है उसका मान बताते हुए विश्वनाथ ने वृत्ति लिखी है –

नालिका घटिकाद्वयमुच्यते।

अर्थात् एक नालिका दो घड़ी के बराबर होती है अर्थात् दो घड़ी को नालिका कहा जाता है।

वैसे नाटक के सामान्य लक्षण समवकार में भी उपयुक्त होते हैं किन्तु यहाँ बिन्दु और प्रवेशक की योजना नहीं होती इसलिए लक्षण में 'नात्र बिन्दुप्रवेशकौ' लिखना पड़ा है –

बिन्दुप्रवेशकौ च नाटकोक्तावपि नेह विधातव्यौ। तत्र–

धर्मार्थकामैस्त्रिविधः श्रृङ्गारः कपटः पुनः।।239।।

स्वाभाविकः कृत्रिमश्च दैवजो विद्रवः पुनः।

अचेतनैश्चेतनैश्च चेतनाचेतनैः कृतः।।240।।

तत्र शास्त्राविरोधेन कृतो धर्मश्रृङ्गारः। अर्थलाभार्थकल्पितोऽर्थश्रृङ्गारः। प्रहसनश्रृङ्गारः कामश्रृङ्गारः। तत्र कामश्रृङ्गारः प्रथमाङ्क एव। अन्ययोस्तु न नियम इत्याहुः। चेतनाचेतना गजादयः। समवकीर्यन्ते बहवोऽर्था अस्मिन्निति समवकारः। यथा समुद्रमथनम्।

समवकार में त्रिश्रृंगार की योजना होती है अर्थात् इसमें धर्मश्रृंगार, अर्थश्रृंगार और कामश्रृंगार की उपस्थिति रहती है। इसी तरह इसमें त्रिकपट अर्थात् स्वाभाविक कपट, कृत्रिमकपट, तथा दैव कपट की योजना रहती है। इसी प्रकार समवकार में त्रिविद्रव की योजना रहती है जिसका अभिप्राय अचेतन (काष्ठ पुत्तलिका आदि द्वारा किया गया) चेतन (प्राणधारियों द्वारा किया गया) चेतनाचेतन (हाथी घोड़े आदि पशुओं द्वारा किया गया) उपद्रव से है।

कारिका में आए कुछ दुरूह पदों की व्याख्या के लिए विश्वनाथ ने उक्त वृत्ति लिखी है। त्रिश्रृंगार में धर्मश्रृंगार का अर्थ धर्मादिशास्त्रों में काम के लिए ग्राह्य और त्याज्य समयों के पालन से है। जहाँ श्रृंगार का प्रयोग शास्त्रसम्मत हो वह धर्मश्रृंगार है। अर्थप्राप्ति के लिए वर्णित श्रृंगार अर्थश्रृंगार कहलाता है, यह गणिकाओं के माध्यम से प्रहसनात्मक कामश्रृंगार होता है। कामश्रृंगार की योजना प्रथम अंक में होती है। द्वितीय और तृतीय अंक के लिए कोई खास नियम नहीं है। चेतनाचेतन से तात्पर्य गजादि पशुओं से है। **'समवकीर्यन्ते बहवोऽर्था अस्मिन्निति समवकारः'** अर्थात् जिसमें अनेक अर्थ इधर-उधर बिखरे रहते हैं वह समवकार कहलाता है। इसका उदाहरण 'समुद्रमथनम्' है।

11.3.6 डिम

अब क्रमप्राप्त दृश्यकाव्य के छठें भेद डिम नामक रूपक का लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है –

अथ डिमः –

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।

उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तकः।।241।।

अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः।

चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ।।242।।

नायका देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः।

भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः।।243।।

वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शाश्च सन्धयः।

दीप्ताः स्युः षड्रसाः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः।।244।।

अत्रोदाहरणं च 'त्रिपुरदाहः' इति महर्षिः।

डिम नामक रूपक में माया से, इन्द्रजाल से, संग्राम से और क्रोध से व्यग्रहृदय व्यक्तियों की चेष्टाओं का बाहुल्य रहता है तथा इसमें उपराग अर्थात् सूर्यचन्द्र ग्रहण और उल्कापात प्राकृतिक उपद्रवों का चित्रण रहता है, डिम का इतिवृत्त (विषयवस्तु) प्रसिद्ध होता है। डिम में रौद्ररस प्रधान होता है तथा अन्य रस अप्रधान अर्थात् अंग रहते हैं। इसमें चार अंक होते हैं किन्तु इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक की योजना नहीं होती। डिम में सोलह नायक होते हैं जो देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जैसे उद्धत प्रकृति के जीव होते हैं। डिम में कैशिकी को छोड़कर बाकी सभी वृत्तियाँ रहती हैं। इसमें विमर्श को छोड़कर सभी सन्धियाँ रहती हैं। डिम में शान्त, हास्य और श्रृंगार को छोड़कर सभी रस अभिव्यक्त होते हैं। डिम काव्य का उदाहरण त्रिपुरदाह है, यह उदाहरण भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उद्धृत है।

11.3.7 ईहामृग

विश्वनाथ ने ईहामृग का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि –

अथेहामृगः –

ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरङ्कः प्रकीर्तितः।

मुखप्रतिमुखे सन्धी तत्र निर्वहणं तथा।।245।।

नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ।

ख्यातौ धीरोद्धतावन्यो गूढभावादयुक्तकृत्।।246।।

दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः।

शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत्।।247।।

पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दशोद्धताः।

युद्धमानीय संरम्भं परं व्याजान्निवर्तते।।248।।

महात्मानो वधप्राप्ता अपि वध्याः स्युरत्र नो।

एकाङ्को देव एवात्र नेतेत्याहुः परे पुनः।।249।।

दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं नायकाः षडितीतरे।

ईहामृग का इतिवृत्त/विषयवस्तु ऐतिहासिकवृत्तों तथा कविकल्पितवृत्तों दोनों के मिश्रण से बना रहता है। इसमें चार अंक होते हैं। इसमें मुखसन्धि, प्रतिमुखसन्धि और निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं। ईहामृग के नायक और प्रतिनायक के दिव्य और मनुष्य होने में कोई नियम नहीं है, अर्थात् इसमें यदि नायक दिव्य है तो प्रतिनायक मनुष्य हो सकता है, यदि प्रतिनायक दिव्य है तो नायक मनुष्य हो सकता है, इसी तरह नायक प्रतिनायक दोनों दिव्य भी हो सकते हैं और मनुष्य भी हो सकते हैं। ईहामृग के नायक प्रतिनायक लोकप्रसिद्ध और धीरोद्धत प्रकृति के होते हैं, इसका प्रतिनायक प्रच्छन्न प्रकृति का होने के साथ अनुचित कार्य करने वाला होता है। ईहामृग का प्रतिनायक किसी दिव्यस्त्री का अपहरण करता है प्रेम की कुछ-कुछ इच्छा रखता है पर उसके द्वारा अपहृत दिव्यस्त्री उस प्रतिनायक में थोड़ा भी प्रेम नहीं रखती, इस कारण यहाँ शृंगार रस का आभास दिखलाया जाता है। ईहामृग में दस पताका-सहनायकों (प्रधान नायक और प्रतिनायक के सहायकों) का चित्रण किया जाता है जो उद्धत होने के साथ दिव्य प्रकृति और मनुष्यप्रकृति के होते हैं। यहाँ प्रतिनायक के बल से युद्ध को प्रारम्भ करके किसी बहाने युद्ध होने को समाप्त कर दिया जाता है। ईहामृग में व्यक्ति के वध्य योग्य होने पर भी उसका वध नहीं किया जाता। कुछ आचार्यों के मत में ईहामृग में केवल एक अंक होना चाहिए तथा इसमें केवल दिव्य चरित्र के व्यक्ति को ही नायक या प्रतिनायक होना चाहिए। कुछ आचार्यों के मत में ईहामृग में छः नायक होते हैं, जो दिव्यस्त्री की प्राप्ति के लिए परस्पर युद्ध करते दिखलाई देते हैं।

मिश्रं ख्याताख्यातम्। अन्यः प्रतिनायकः। पताकानायकस्तु नायकप्रतिनायकयोर्मिलिता दश। नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहते वाञ्छतीतीहामृगः।

कारिका में 'मिश्र' पद से प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इतिवृत्त का अभिप्राय लिया गया है। 'अन्य' पद का अभिप्राय 'प्रतिनायक' से है। इसके पताकानायकों अर्थात् नायक के सहायकों और प्रतिनायक के सहायकों की संख्या 10 हुआ करती है। ईहामृग को इसलिए ईहामृग कहते हैं क्योंकि इस रूपक प्रकार में नायक मृग की भाँति ऐसी नयिका की ईहा अथवा कामना में निरत चित्रित किया जाता है जो कि अलभ्य अथवा दुष्प्राप्य हुआ करती है।

11.3.8 उत्सृष्टाङ्क

अब विश्वनाथ रूपक के आठवें भेद उत्सृष्टाङ्क का लक्षण प्रस्तुत करते हैं –

अथाङ्कः –

> **उत्सृष्टिकाङ्कः एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः।।250।।**
>
> **रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम्।**
>
> **प्रख्यातमितिवृत्तं च कविर्बुद्ध्या प्रपञ्चयेत्।।251।।**
>
> **भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ।**
>
> **युद्धं च वाचा कर्तव्यं निर्वेदवचनं बहु।।252।।**

इमं हि केचित् नाटकाद्यन्तःपात्यङ्कपरिच्छेदार्थमुत्सृष्टिकाङ्कनामानम् आहुः। अन्ये तु– उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युसृष्टाङ्कः। यथा शर्मिष्ठाययातिः।

उत्सृष्टाङ्क में एक अंक होता है, इसके नायक प्राकृत अर्थात् साधारण पुरुष होते हैं। उत्सृष्टाङ्क का प्रधान रस करुण होता है, क्योंकि इसमें अनेक स्त्रीपात्रों का विलाप दिखाया जाता है। इसका इतिवृत्त

प्रख्यात होता है और कवि अपनी बुद्धि के बल से उस प्रख्यात इतिवृत्त को विस्तार देता है। उत्सृष्टाङ्क में सन्धि योजना, वृत्ति योजना और अङ्गों की योजना भाण (पूर्वनिर्दिष्ट रूपक भेद) की तरह की जाती है। इसमें जय-पराजय, युद्ध केवल वाणी द्वारा ही प्रकाशित किए जाते हैं तथा इसमें निर्वेदों से युक्त वचनों की बहुलता रहती है। इस उत्सृष्टाङ्क का नाम अंक भी हो सकता है किन्तु यदि इसका नाम अंक होगा तो नाटक आदि समस्त रूपकों के विभाजन के भागविशेष को अंक कहा जाता है, अतः भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, इसलिए आचार्यों ने नाटक आदि रूपकों के अन्तर्भाग में रहने वाले अंक से इसको अलग रखने के लिए अंक के साथ उत्सृष्ट पद लगाकर 'उत्सृष्टांक' नामकरण किया है।

कुछ आचार्यों ने **'उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टाङ्कः'** कहा है अर्थात् जिसकी इतिवृत्त-रचना अन्य रूपक प्रकारों से उलटी होती है उसे उत्सृष्टाङ्क कहते हैं। उत्सृष्टाङ्क का प्रसिद्ध उदाहरण 'शर्मिष्ठाययाति' है।

11.3.9 वीथी

उत्सृष्टाङ्क का निरूपण करने के बाद विश्वनाथ क्रमप्राप्त वीथी का लक्षण करते हैं –

अथ वीथी–

वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते।

आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः।।253।।

सूचयेद्भूरि शृङ्गारं किञ्चिदन्यान् रसान्प्रति।

मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः।।254।।

वीथी में एक अंक होता है तथा इसमें एक नायक होता है। इसका नायक आकाशभाषित योजना से विस्मयोत्पादक उक्ति-प्रत्युक्ति करता है, अर्थात् वह आकाश की ओर मुख करके मानो वहाँ कोई व्यक्ति हो इस विधि से वार्तालाप करता है। वीथी में अन्य रसों की अपेक्षा प्रचुर मात्रा में श्रृंगार रस की अभिव्यंजना होती है, इसमें मुखसन्धि, प्रतिमुखसन्धि नामक दो सन्धियाँ रहती हैं, तथा पाँचों– बीजं बिन्दु प्रताका च प्रकरी कार्यमेव च– अर्थप्रकृतियाँ भी रहती हैं।

कश्चिदुत्तमो मध्यमोऽधमो वा शृंगारबहुलत्वाच्चास्याः कैशिकीवृत्तिबहुलत्वम्।

कारिका में प्रयुक्त 'कश्चित्' पद के प्रयोग से अभिप्राय नायक के उत्तम, मध्यम अथवा अधम प्रकृति के होने से है। इसमें किसी भी प्रकृति का नायक हो सकता है लेकिन वह एक ही होगा। भूरि-श्रृंगार का अभिप्राय वीथी में कैशिकी वृत्ति के प्राचुर्य उपयोग से है।

नाट्यशास्त्र के विद्वान् वीथी के तेरह भेद मानते हैं, जिसे विश्वनाथ ने निम्नरूप में निरूपित किया है –

अस्यास्त्रयोदशाङ्गानि निर्दिशन्ति मनीषिणः।

उद्घात्य(त)कावलगिते प्रपञ्चस्त्रिगतं छलम्।।255।।

वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके।

असत्प्रलापव्याहारमृद(मार्द)वानि च तानि तु।।256।।

1) उद्घात्यक, 2) अवलगित, 3) प्रपञ्च, 4) त्रिगत, 5) छल, 6) वाक्केलि, 7) अधिबल, 8) गण्ड, 9) अवस्यन्दित, 10) नालिका, 11) असत्प्रलाप, 12) व्याहार और 13) मृदव अथवा मार्दव– ये 13 वीथियों के नाम हैं।

इन तेरह भेदों में से जो प्रारम्भिक उद्घात्यक और अवगलित नामक भेद हैं वे प्रस्तावना अर्थात् आमुख के निरूपण के अवसर पर बताए जा चुके हैं। अतः विश्वनाथ कहते हैं –

तत्रोद्घात्यकावलगिते प्रस्तावनाप्रस्तावे सोदाहरणं लक्षिते।

3) प्रपञ्च

मिथो वाक्यमसद्भूतं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः।

यथा विक्रमोर्वश्याम् –

वलभीस्थविदूषकचेट्योरन्योन्यवचनम्।

प्रपञ्च दो पात्रों के बीच चल रहे परस्पर वार्तालाप का वह वाक्य है जो प्रायः असत्य रहता है और हास्य उत्पन्न करने वाला होता है, जैसे विक्रमोर्वशीयम् नाटक में– वलभी पर बैठकर विदूषक और चेटी पारस्परिक वार्तालाप करते हैं, यह स्थिति प्रपञ्च की है।

4) त्रिगत

त्रिगतं स्यादनेकार्थयोजनं श्रुतिसाम्यतः।।257।।

यथा तत्रैव–

राजा–

सर्वक्षितिभृतां नाथ, दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी।

रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् मया विरहिता त्वया।।

(नेपथ्ये तत्रैव प्रतिशब्दः)

राजा – कथं दृष्टेत्याह। अत्र प्रश्नवाक्यमेवोत्तरत्वेन योजितम्।

नटादित्रितयविषयमेवेदमिति कश्चित्।

त्रिगत वीथी का वह अंग है जिसमें श्रुतिसाम्य अर्थात् सुनने में समता होने से अनेक अर्थों की योजना हो जाती है। जैसे विक्रमोर्वशीयम् में ही

राजा–

हे सभी पर्वतों के नाथ (हिमालय)! इस रम्य वनभाग में आपने मुझसे अलग हुई सर्वांगसुन्दरी उस (उर्वशी) को देखा।

(नेपथ्य में वही वाक्य प्रतिध्वनि में होकर जब अन्यत्र जाता है)

राजा– ओह! इसने तो कहा कि देखा है।

श्लोक में जो वाक्य प्रश्नाकार के रूप में था वह काकु आदि की महिमा से प्रतिध्वनि होकर उत्तर के रूप में परिणत हो गया।

कुछ नाट्याचार्यों के मत में यह नट,नटी और सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त होने के कारण त्रिगत कहा जाता है।

5) छल

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्यच्छलनाच्छलम्।

यथा वेण्याम् –

भीमार्जुनौ

कर्ता द्यूतच्छलानां, जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी

राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम्।

कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः

क्वाऽऽस्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत, न रुषा, द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः।।

वस्तुतः अप्रिय किन्तु सहसा प्रिय प्रतीत लगने वाले वाक्यों द्वारा किसी को आकृष्ट कर बाद में वञ्चना करना छल कहा जाता है।

जैसे वेणीसंहार में –

भीम और अर्जुन –

बताओ कहाँ है वह द्यूत क्रीडा में छल करने वाला, लाक्षागृह को बनाने वाला और उसे जलाने वाला, अभिमानी, दुःशासन आदि लोगों का राजा, सौ अनुजों का अग्रज, अंगराज कर्ण का मित्र, द्रौपदी के केश और वस्त्र को खींचने वाला, पाण्डव जिसके दास हैं ऐसा वह तुम्हारा राजा दुर्योधन? हम उसके दर्शन के लिए आए हैं क्रोध से नहीं।

यहाँ सुनने में उक्त श्लोकोक्त वाक्य प्रिय लग रहा है किन्तु दुर्योधन के अपराधों को प्रकट कर रहा है, यहाँ भीम और अर्जुन के प्रिय वचनों से दुर्योधन को आकृष्ट करके उसके साथ वञ्चना का अभिप्राय व्यक्त हो रहा है। अतः यह छल है।

अन्ये त्वाहुश्छलं किञ्चित्कार्यमुद्दिश्य कस्यचित्।।258।।

उदीर्यते यद्वचनं वञ्चनाहास्यरोषकृत्।

किन्हीं आचार्यों के मत में जो किसी उद्देश्यविशेष से किसी के लिए वञ्चनात्मक, हासोत्पादक अथवा रोषकारक वचन प्रयुक्त किया जाता है उसे छल कहा जाता है।

6) वाक्केलि

वाक्केलिर्हास्यसम्बन्धो द्वित्रिप्रत्युक्तितो भवेत्।।259।।

द्वित्रीत्युपलक्षणम् –

यथा–

भिक्षो! मांसनिषेवणं प्रकुरुषे, किं तेन मद्यं विना

मद्यं चापि तव प्रियं प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह।

वेश्याऽप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा

चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो, नष्टस्य कान्या गतिः।।

दो तीन (कतिपय) उक्ति प्रत्युक्ति के द्वारा हास परिहास पैदा करना वाक्केलि कहलाता है

कारिका में प्रयुक्त 'द्वित्रि' पद अनेक का उपलक्षण है, अर्थात् हास परिहास दो तीन उक्तियों से भी उत्पन्न होता है अनेक उक्तियों से भी।

जैसे–

(गृहस्वामी) हे भिक्षु महाराज! क्या माँस खा रहे हो? (भिक्षु) हाँ खा तो रहा हूँ पर शराब के बिना उसे खाया तो क्या खाया (गृहस्वामी) तो क्या आपको शराब भी प्रिय है? (भिक्षु) हाँ पर शराब का भी क्या मजा जब तक साथ में सुन्दरियाँ न हों, (गृहस्वामी) ओह! तो क्या आपकी रुचि वेश्या सेवन में भी है? तो इसके लिए पैसा कहाँ से लाते हो? (भिक्षु) जुआ अथवा चोरी से धन लाता हूँ, (गृहस्वामी) तो क्या आप चोर और जुआरी भी है? (भिक्षु) बरबाद व्यक्ति भला कर ही क्या सकता है।

यहाँ दो व्यक्तियों के संवाद में प्रयुक्त अनेक उक्ति प्रत्युक्ति के द्वारा हास-परिहास पैदा किया गया है।

केचित् – 'प्रक्रान्तवाक्यस्य साकाङ्क्षस्यैव निवृत्तिर्वाक्केलिः' इत्याहुः। अन्ये 'अनेकस्य प्रश्नस्यैकमुत्तरम्'।

कुछ नाट्याचार्यों के मत में जहाँ वाक्य की आकांक्षा पूरी न हो और वचन समाप्त कर दिया जाए, वाक्केलि कहा जाता है। तो कुछ नाट्याचार्य वाक्केलि को अनेक प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

7) अधिबल

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिबलं मतम्।

यथा मम प्रभावत्याम् –

वज्रनाभः

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया।

लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः।।

प्रद्युम्नः – अरे अरे असुरापसद! अलममुना बहुप्रलापेन।

मम खलु –

अद्य प्रचण्डभुजदण्डसमर्पितोरुकोदण्डनिर्गलितकाण्डसमूहपातैः।

आस्तां समस्तदितिजक्षतजोक्षितेयं क्षोणिः क्षणेन पिशिताशनलोभनीया।।

एक दूसरे की स्पर्धायुक्त बातचीत को अधिबल कहते हैं

जैसे मेरे प्रभावतीपरिणय में –

वज्रनाभ –

मैं क्षणभर में इस गदा से इसके वक्षस्थल को विदीर्ण कर दूँगा और तुम दोनों का इहलोक और परलोक दोनों नष्ट कर दूँगा।

प्रद्युम्न –

अरे नीच राक्षस! अधिक बकवास करने से क्या लाभ, देख–

आज हम अपने प्रचण्ड भुजदण्ड में सुशोभित धनुष से निकलने वाले बाणों से समस्त राक्षस वंश का संहार करके उनके रक्त से पृथिवी को भिगो देंगे और उन रक्तों को मांसभोजी प्राणियों को खिलाकर प्रसन्न कर देंगे।

यहाँ दो दलों के लोगों के द्वारा एक दूसरे की बातचीत को स्पर्धापूर्वक बढ़ा चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है, अतः यह अधिबल का उदाहरण है।

8) गण्ड

गण्डं प्रस्तुतसंबन्धि भिन्नार्थं सत्वरं वचः।।260।।

यथा वेण्याम् –

राजा–

अध्यासितुं तव चिराज्जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु! ममोरुयुग्मम्।

अनन्तरम् (प्रविश्य)

कञ्चुकी – देव! भग्नं भग्नं– इत्यादि।

अत्र रथकेतनभङ्गार्थं वचनमूरुभङ्गार्थे सम्बन्धे सम्बद्धम्।

प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध किन्तु विरुद्धार्थक वचन के सहसा उपन्यास को गण्ड कहा जाता है।

जैसे वेणीसंहार में

राजा –

अरी सुन्दरी! मेरा यह ऊरुयुगल तेरे जघन मण्डल का आसन बनने के लिए तैयार है।

उसी समय (कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी–

महाराज! वह तो टूट चुका।

यहाँ रथ के ध्वज-दण्ड के टूटने से सम्बद्ध कञ्चुकी वचन, दुर्योधन के ऊरुभङ्ग के अर्थ से भी सम्बद्ध दिखाई दे रहा है।

9) अवस्यन्दित

व्याख्यानं स्वरसोक्तस्यान्यथावस्यन्दितं भवेत्।

यथा छलितरामे –

सीता – जात! कल्यं खलु अयोध्यायां गन्तव्यम्, तत्र स राजा विनयेन पणायितव्यः।

लवः – अथ किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम्।

सीता – जात! स युष्माकं पिता।

लवः – किमावयो रघुपतिः पिता?

सीता – (साशङ्कम्) मा अन्यथा शङ्कध्वम्, न खलु युष्माकं, सकलाया एव पृथिव्याः।

किसी के अभिप्रेत वचन का जब किसी दूसरे पुरुष के द्वारा अन्य प्रकार से व्याख्यान हो जाता है उसे अवस्यन्दित कहते हैं।

जैसे छलितराम में –

सीता – पुत्र प्रातःकाल ही तुम दोनों को अयोध्या प्रस्थान करना है वहाँ के राजा से विनयपूर्वक व्यवहार करना।

लव – तो क्या हम दोनों को राजा के अनुचर जैसा होकर उसकी सेवा करनी चाहिए।

सीता – अरे पुत्र ! वे तुम दोनों के पिता हैं।

लव – तो क्या हमारे पिता राम हैं?

सीता – (घबराकर) अन्यथा शंका मत करो वे केवल तुम दोनों के ही नहीं बल्कि समस्त पृथिवी के पिता हैं।

यहाँ पर सीता के अभिप्राय वचन की व्याख्या लवकुश ने अन्य प्रकार से कर दी है, अतः यह अवस्यन्दित का उदाहरण है।

10) नालिका

प्रहेलिकैव हास्येन युक्ता भवति नालिका।।261।।

संवरणकार्युत्तरं प्रहेलिका।

यथा रत्नावल्याम् –

सुसङ्गता – सखि! यस्य कृते त्वमागता स इत एव तिष्ठति।

सागरिका – कस्य कृते अहमागता?

सुसङ्गता – ननु चित्रफलकस्य।

अत्र त्वं राज्ञः कृते आगतेत्यर्थः संवृतः।

हास्य परिहास युक्त पहेली को नालिका कहते हैं।

यहाँ प्रहेलिका का अभिप्राय किसी उत्तर विशेष को छिपाने से है।

जैसे रत्नावली नाटिका में

सुसंगता – सखि! तुम जिसके लिए आई हो वह यहीं पर स्थित है।

सागरिका – मैं किसके लिए आई हूँ?

सुसंगता – अरे इस चित्र फलक को ही समझ लो।

यहाँ पर तुम राजा के लिए आई हो, यह बात छिपा दी गई है।

11) असत्प्रलाप

असत्प्रलापो यद्वाक्यमसंबद्धं तथोत्तरम्।

अगृह्णतोऽपि मूर्खस्य पुरो यच्च हितं वचः।।262।।

तत्राद्यं यथा मम प्रभावत्याम् –

प्रद्युम्नः – (सहकारवल्लीमवलोक्य सानन्दम्) अहो! कथमिहैव–

अलिकुलमञ्जुलकेशी परिमलबहला रसावहा तन्वी।

किसलयपेशलपाणिः कोकिलभाषिणी प्रियतमा मे।।

एवमसंबद्धोत्तरेऽपि। तृतीये यथा – वेण्यां दुर्योधनं प्रति गान्धारीवाक्यम्।

असत्प्रलाप 3 प्रकार का होता है– 1) पूर्वापर के क्रम से सर्वथा असंबद्ध वाक्य के उपन्यास को, 2) क्रम के तारतम्य से रहित उत्तर के उपन्यास को, 3) जो अर्थ न समझ पाये ऐसे मूर्ख के सामने हितकारक वचन के उपन्यास को, असत्प्रलाप कहा जाता है।

पहले भेद का उदाहरण मेरे (विश्वनाथ के) प्रभावती नाटिका से प्रस्तुत किया जा रहा है जैसे –

प्रद्युम्न–

(सहकारवल्ली को देखकर आनन्द के साथ) ओह! तो क्या यही– मेरी वह भौंरों के समूह की भाँति सुन्दर बालों वाली, सुगन्धवाली, पराग (रस) धारण करने वाली, कोमल पत्तों सी हाथों वाली, कोयल की तरह कलभाषिणी प्रियतमा (प्रभावती) है।

यहाँ सहकारवल्ली से प्रियतमा के भ्रम से बातचीत की जा रही है जिससे यह असत्प्रलाप का उदाहरण है।

इसी तरह असंबद्ध उत्तर का उदाहरण ढूँढा जा सकता है। तृतीय भेद का उदाहरण वेणीसंहारनाटक में दुर्योधन के प्रति गान्धारी के वाक्य को समझा जा सकता है।

12) व्याहार

व्याहारो यत्परस्यार्थे हास्यक्षोभकरं वचः।

यथा मालविकाग्निमित्रे (लास्यप्रयोगावसाने मालविका निर्गन्तुमिच्छति)।

विदूषकः – मा तावदुपदेशमुग्धा गमिष्यसि (इत्युपक्रमेण)

गणदासः – (विदूषकं प्रति) आर्य! उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः।

विदूषकः – प्रथमं ब्राह्मणपूजा भवति, सा अनया लङ्घिता। (मालविका स्मयते) इत्यादिना नायकस्य विशुद्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हासलोभकारिणा वचसा व्याहारः।

दूसरे (नायकादि) के लाभ के लिए हासजनक अथवा क्षोभजनक वचन के उपन्यास को व्याहार कहा जाता है।

जैसे मालविकाग्निमित्र नाटक में– (लास्य प्रयोग की समाप्ति के बाद मालविका जाना चाहती है)

विदूषक – तुम शास्त्रवचन को तोड़कर नहीं जा सकती।

गणदास – (विदूषक से) हे आर्य! कहो इसे कौन सा वचन तोड़ते हुए तुमने देखा है।

विदूषक – पहले ब्राह्मण की पूजा होती है इसने उस क्रम को तोड़ दिया (मालविका मुस्कुराती है)

इन वाक्यों में नायक अग्निमित्र को मालविका का निर्विघ्न दर्शन करने का अवसर देने के लिए विदूषक द्वारा हास्यजनक अथवा क्षोभजनक वचन कहा गया है।

13) मृदव

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत्।।263।।

क्रमेण यथा –

प्रिय! जीवितताक्रौर्यं निःस्नेहत्वं कृतघ्नता।

भूयस्त्वद्दर्शनादेव ममैते गुणतां गताः।।

तस्यास्तद्रूपसौन्दर्यं भूषितं यौवनश्रिया।

सुखैकायतनं जातं दुःखायैव ममाधुना।।

एतानि चाङ्गानि नाटकादिषु सम्भवन्त्यपि वीथ्यामवश्यं विधेयानि स्पष्टतया नाटकादिषु विनिविष्टान्यपीहोदाहृतानि। वीथीव नानारसानां चात्र मालारूपतया स्थितत्वाद्वीथीयम्।

मृदव उसे कहते हैं जिसमें दोष गुण जैसे प्रतीत हों और गुण दोष जैसे प्रतीत हों।

क्रमशः उदाहरण दिया जा रहा है (दोष की गुण रूप में प्रतीति) –

हे प्रिय! तुम्हारे विरह में मेरा जीवन जीना– मेरी क्रूरता, निःस्नेहता और कृतघ्नता ही है किन्तु जैसे ही तुम्हारा दर्शन हो जाता है तो तुम्हारे पुनर्मिलन से मेरी क्रूरता, निःस्नेहता और मेरी कृतघ्नता जो दोष हैं वे गुण में बदल जाते हैं।

(गुण की दोषरूप में प्रतीति)

उसके यौवनश्री से सम्पन्न रूप का सौन्दर्य पहले (संयोग की अवस्था में) कितना आनन्ददायक रहा किन्तु अब उसके वियोग की बेला में वह रूप सौन्दर्य मेरे लिए दुःखदायक हो उठा है।

वैसे तो वीथी के ये अंग समस्त नाटकों में भी पाए जाते हैं किन्तु वीथी नामक उपरूपक में इनकी योजना अत्यावश्यक है इसलिए इन्हें वीथी के निरूपण प्रसंग में बताया गया। वीथी को इसलिए वीथी कहा जाता है क्योंकि इसमें नाना प्रकार के रस तथा भावों की माला बनी रहती है,जैसे मालविका।

11.3.10 प्रहसन

अथ प्रहसनम्

भाणवत्सन्धिसन्ध्यङ्गलास्याङ्गाङ्कैर्विनिर्मितम्।

भवेत् प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम्।।264।।

अत्र नारभटी, नापि विष्कम्भकप्रवेशकौ।

अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यङ्गानां स्थितिर्न वा।।265।।

प्रहसन वह होता है जिसमें सन्धि, सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग और अङ्क की रचना भाण की तरह होती है। भाण का इतिवृत्त अधम प्रकृति के पात्रों का होता है जो कविकल्पित होता है। भाण में आरभटी वृत्ति की योजना नहीं होती है और इसमें विष्कम्भक तथा प्रवेशक का उपयोग भी नहीं होता। भाण में प्रधान रस हास्य होता है इसमें वीथी के अङ्गों की स्थिति वैकल्पिक है अनिवार्य नहीं।

तत्र–

तपस्विभगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः।

एको यत्र भवेद्धृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते।।

यथा– कन्दर्पकेलिः

जिसमें तपस्वी, संन्यासी और ब्राह्मण श्रेणी में से किसी एक श्रेणी के व्यक्ति को धृष्टनायक बनाया जाये वह शुद्ध प्रहसन होता है, जैसे कन्दर्पकेलि।

संकीर्ण प्रहसन –

आश्रित्य कञ्चन जनं संकीर्णमिति तद्विदुः।। 266।।

यथा – धूर्तचरितम्

जिसमें किसी अधम व्यक्ति को नायक बनाया जाता है वह संकीर्ण प्रहसन कहलाता है, जैसे– धूर्तचरितम्।

विकृत प्रहसन –

वृत्तं बहूनां धृष्टानां सङ्कीर्णं केचिदूचिरे।

तत्पुनर्भवति द्वय्यङ्कमथवैकाङ्कनिर्मितम्।।267।।

यथा– लटकमेलकादिः

कुछ नाट्याचार्यों के मत में अनेक धृष्ट व्यक्तियों के वृत्त का चित्रण होने से संकीर्ण प्रहसन होता है और वह दो अंक का अथवा एक अंक का होता है, जैसे– लटकमेलक आदि।

इस विषय में विश्वनाथ भरतमुनि का मत उद्धृत करते हैं–

मुनिस्त्वाह–

'वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः।

अविकृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणं तु सङ्कीर्णम्'।। इति

विकृतं तु विदुर्यत्र षण्ढकञ्चुकितापसाः।

भुजङ्गचारणभटप्रभृतेर्वेषवाग्युताः।।268।।

इदं तु सङ्कीर्णेनैव गतार्थमिति मुनिना पृथङ्नोक्तम्।

जिसमें वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त और बन्धकी चित्रित रहते हैं और उनकी वेशभूषा तथा चेष्टा का सांगोपांग चित्रण रहता है वह संकीर्ण होता है। शुद्ध प्रहसन और संकीर्ण प्रहसन के अतिरिक्त विकृत प्रहसन भी होता है जिसमें नपुंसक, कञ्चुकी, तपस्वी, कामुक, चारण, वीर लोगों की वेशभूषा और बोल-चाल का चित्रण रहता है किन्तु विकृत नामक प्रहसन का निरूपण भरतमुनि नहीं करते क्योंकि भरतमुनि के अनुसार इसका अन्तर्भाव प्रहसन के दूसरे भेद अर्थात् संकीर्ण में हो जाता है किन्तु विश्वनाथ के मत में प्रहसन के तीन प्रकार हैं।

11.4 उपरूपक

दृश्यकाव्य के अर्थात् रूपक के दस भेदों का निरूपण करने के पश्चात् क्रमप्राप्त उपरूपकों का लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है। उपरूपक का प्रथम भेद नाटिका है जिसका लक्षण निम्न है–

1) नाटिका

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।

प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः।।269।।

स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताथवा।

नवानुरागा कन्याऽत्र नायिका नृपवंशजा।।270।।

सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः।

देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा।।271।।

पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः।

वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः।।272।।

द्वयोर्नायिकानायकयोः। यथा रत्नावली–विद्धशालभञ्जिकादिः

नाटिका का इतिवृत्त कविकल्पित होता है, इसमें स्त्री पात्रों का बाहुल्य होता है और चार अंक होते हैं। इसका नायक प्रख्यात वंश का होता है तथा वह धीरललित प्रकृति का होता है। नाटिका की नायिका अन्तःपुर से संबद्ध होकर संगीत आदि क्रियाओं में व्यस्त रहने वाली होती है, नव अनुराग को धारण करने वाली होती है तथा राजवंश में उत्पन्न होने वाली होती है। नाटिका के नायक का नायिका के प्रति प्रेमभाव देवी अर्थात् राजमहिषी के भय से दबा रहता है जो चोरी-छिपे प्रकाशित होता है, यहाँ देवी पद से अभिप्राय राजकुल में उत्पन्न ज्येष्ठ महारानी से है जो प्रगल्भा होती है। नाटिका की (वह उपर्युक्त) महारानी बात-बात पर मान करने वाली होती है, और महारानी की अनुकम्पा से ही नायक-नायिका का मिलन सम्भव हो पाता है। इसमें कैशिकी वृत्ति की योजना रहती है, साथ में इसमें सभी सन्धियाँ भी होती हैं किन्तु विमर्शसन्धि की योजना अल्प मात्रा में होती है। उपर्युक्त 272 वीं कारिका में जो 'द्वयोः' पद का प्रयोग है उसका विशेष्य पद कारिका में निर्दिष्ट नहीं है, जिससे आकाङ्क्षा बनी रह जाती है, फलतः विश्वनाथ स्पष्ट करते हैं – 'द्वयोः' पद से नायिका और नायक बोध्य हैं। नाटिका का उदाहरण विद्धशालभञ्जिका है।

2) त्रोटक –

अथ त्रोटकम् –

सप्ताष्टनवपञ्चाङ्गं दिव्यमानुषसंश्रयम्।

त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम्।।273।।

प्रत्यङ्कसविदूषकत्वादत्र श्रृङ्गारोऽङ्गी। सप्ताङ्कं यथा– स्तम्भितरम्भम्। पञ्चाङ्कं यथा– विक्रमोर्वशीयम्।

त्रोटक नामक उपरूपक पाँच, सात, आठ अथवा नौ अंकों में रचा जाता है जिसमें देव और मानव दोनों प्रकार के इतिवृत्तों का मिश्रण होता है इसमें सभी अंकों में विदूषक का उपयोग अनिवार्य है। यहाँ प्रत्येक अंक में विदूषक होने का अभिप्राय त्रोटक में शृंगार रस के प्राधान्य से है। सात अंक वाले त्रोटक का उदाहरण 'स्तम्भितरसम्' है तथा पाँच अंक वाले त्रोटक का उदाहरण 'विक्रमोर्वशीयम्' है।

3) गोष्ठी –

अथ गोष्ठी –

प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलङ्कृता।

नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी।।274।।

हीना गर्भविमर्शाभ्यां पञ्चषड्योषिदन्विता।

कामश्रृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता।।275।।

यथा– रैवतमदनिका

गोष्ठी उपरूपक में नव अथवा दस साधारण श्रेणी के व्यक्ति पात्र होते हैं इसमें उदात्त वचन नहीं पाये जाते तथा इसमें कैशिकी वृत्ति की योजना होती है। गोष्ठी में पाँच या छः महिला पात्र होती हैं तथा इसमें गर्भसन्धि और विमर्शसन्धि को छोड़कर बाकी सभी सन्धियाँ होती हैं। गोष्ठी में कामश्रृंगार प्रधान रूप से रहता है तथा इसमें एक अंक रहता है। गोष्ठी का उदाहरण 'रैवतमदनिका' है।

4) सट्टक –

अथ सट्टकम् –

सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम्।

न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः।।276।।

अङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिकासमम्।

यथा कर्पूरमञ्जरी।

सट्टक में समस्त पाठ्य प्राकृत में होता है अर्थात् सट्टक की रचना प्राकृत में होती है, इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक दोनों नहीं होते। सट्टक में अद्भुतरस प्रधान होता है, सट्टक के अंकों का नाम जवनिका होता है तथा इसका अन्य लक्षण नाटिका के समान होता है, जैसे– 'कर्पूरमञ्जरी'।

5) नाट्यरासक –

अथ नाट्यरासकम् –

नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थिति।।.277।।

उदात्तनायकं तद्वत्पीठमर्दोपनायकम्।

हास्योऽङ्ग्यत्र सश्रृङ्गारो नारी वासकसज्जिका।।278।।

मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च।

केचित्प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलम्।।279।।

तत्र सन्धिद्वयवती यथा– नर्मवती। सन्धिचतुष्टयवती यथा– विलासवती।

नाट्यरासक उपरूपक में एक अंक होता है तथा इसमें अनेक ताल और लय की स्थिति होती है। नाट्यरासक का नायक उदात्तप्रकृति का होता है तथा उसका सहायक 'पीठमर्द' उपनायक के रूप में चित्रित रहता है। इसमें श्रृंगार से युक्त हास्यरस अङ्गी होता है, तथा नाट्यरासक की नायिका वासकसज्जा होती है। नाट्यरासक में मुखसन्धि और निर्वहणसन्धि (दो सन्धियों) की ही योजना रहती है तथा लास्य के समस्त दस भेद इसमें रहते हैं। कुछ नाट्याचार्य इसमें केवल प्रतिमुखसन्धि का उपयोग नहीं मानते (अन्य चार सन्धियों की योजना मानते हैं)। दो सन्धियों से युक्त नाट्यरासक का उदाहरण – 'नर्मवती है तथा चार सन्धियों से युक्त का उदाहरण 'विलासवती' है।

6) प्रस्थानक –

अथ प्रस्थानकम् –

प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्यादुपनायकः।

दासी च नायिका वृत्तिः कैशिकी भारती तथा।।280।।

सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थस्य संहतिः।

अङ्कौ द्वौ लयतालादिर्विलासो बहुलस्तथा।।281।।

यथा– शृङ्गारतिलकम्।

प्रस्थानक का नायक दास (सेवक) होता है और इसमें हीन व्यक्ति उपनायक होता है जो दास-नायक की अपेक्षा कम गुणों वाला होता है। प्रस्थानक की नायिका दासी होती है तथा इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं। प्रस्थानक वह उपरूपक है जिसका समापन मदिरा विनोद के साथ होता है। प्रस्थानक में दो अंक होते हैं तथा इसमें लय-तालों से मिश्रित गीतों और विविध विलासों का चित्रण होता है। प्रस्थानक का उदाहरण 'श्रृंगारतिलक' है।

7) उल्लाप्य –

अथोल्लाप्यम् –

उदात्तनायकं दिव्यवृत्तमेकाङ्कभूषितम्।

शिल्पकाङ्गैर्युतं हास्यशृङ्गारकरुणै रसैः।।282।।

उल्लाप्यं बहुसंग्राममस्रगीतमनोहरम्।

चतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन।।283।।

शिल्पकाङ्गानि वक्ष्यमाणानि। यथा– देवीमहादेवम्।

उल्लाप्य नामक उपरूपक वह होता है जिसमें उदात्तनायक का चित्रण होता है इसका इतिवृत्त देवतासन्बन्धी होता है। यह विविध शिल्पों से युक्त होता है इसमें एक अंक होता है, तथा इसमें हास्य, श्रृंगार और करुण रस की अभिव्यक्ति अनिवार्य है। उल्लाप्य में अनेक संग्रामों का चित्रण रहता है तथा इसमें अस्त्रगीत अर्थात् परदे के पीछे से गाये जाने वाले गीत की योजना रहती है। कुछ नाट्याचार्यों के मत में इसमें चार नायिकाएँ रहती हैं और इसमें तीन अंक ही होते हैं। उपर्युक्त 272 वीं कारिका में जो 'शिल्पक' पद का प्रयोग है उसके लिए विश्वनाथ ने उक्त वृत्ति लिखी है जिसका अर्थ है कि शिल्पक का निरूपण आगे होगा। उल्लाप्य का प्रसिद्ध उदाहरण 'देवीमहादेवम्' है।

8) काव्य –

अथ काव्यम् –

काव्यमारभटीहीनमेकाङ्कं हास्यसङ्कुलम्।

खण्डमात्राद्विपदिकाभग्नतालैरलङ्कृतम्।।284।।

वर्णमात्राछड्डणिकायुतं शृङ्गारभाषितम्।

नेता स्त्री चाप्युदात्तात्र सन्धी आद्यौ तथान्तिमः।।285।।

यथा यादवोदयम।

'काव्य' नामक उपरूपक आरभटी वृत्ति से हीन होता है इसमें एक अंक होता है तथा यह हास्यरस प्रधान होता है। काव्य नामक उपरूपक में 'खण्डमात्रा', 'द्विपदिका' और 'भग्नताल' नामक गीतभेदों का उपन्यास रहता है। इसमें शृंगार रसानुकूल वर्ण मात्राओं का प्रयोग होता है तथा छड्डलिका नामक छन्द का मनोहर प्रयोग होता है। काव्य नामक उपरूपक का नायक और नायिका उदात्तप्रकृति के होते हैं तथा इसमें मुखसन्धि और निर्वहणसन्धि की ही योजना होती है। काव्य नामक उपरूपक का उदाहरण 'यादवोदयम्' है।

9) प्रेङ्खण –

अथ प्रेङ्खणम्–

गर्भावमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम्।

असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम्।।286।।

नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम्।

नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना।।287।।

यथा बालिवधः।

प्रेङ्खण वह उपरूपक है जिसमें गर्भसन्धि और अवमर्शसन्धि का अभाव रहता है, इसका नायक हीन प्रकृति का व्यक्ति होता है। प्रेङ्खण में सूत्रधार नहीं होता तथा यह एक अंक का होता है, इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक की योजना नहीं रहती। प्रेङ्खण में द्वन्द्वयुद्ध और सरोष-भाषण का चित्रण किया जाता है, इसमें सभी वृत्तियाँ रहती हैं। प्रेङ्खण में नान्दीपाठ नेपथ्य से ही किया जाता है और इसमें प्ररोचना अर्थात् कवि, नट और सामाजिकों के लिए प्रशंसा वाक्यों का गान भी रहता है। प्रेङ्खण का उदाहरण 'बालिवध' है।

10) रासक –

अथ रासकम् –

रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम्।

भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम्।।288।।

असूत्रधारमेकाङ्कं सवीथ्यङ्गम् कलान्वितम्।

श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम्।।289।।

उदात्तभावविन्यासंश्रितं चोत्तरोत्तरम्।

इह प्रतिमुखं सन्धिमपि केचित्प्रचक्षते।।290।।

यथा– मेनकाहितम्।

रासक में पाँच पात्र होते हैं तथा मुखसन्धि और निर्वहणसन्धि से युक्त होता है। रासक में भाषा और विभाषा का प्रयोग प्रचुरता से होता है इसमें भारती और कैशिकी वृत्तियों की योजना की जाती है। रासक में सूत्रधार नहीं होता तथा इसमें एक अंक होता है, इसमें समस्त वीथियों के अंग मिले रहते हैं और नृत्य-गीतादि कलाओं से भरपूर होता है। रासक की नान्दी श्लिष्टपदों से युक्त होती है इसकी नायिका प्रसिद्ध होती है किन्तु नायक मूर्ख होता है। रासक में उदात्त भावों का विन्यास निरन्तर पुष्ट होकर चित्रित रहता है। कतिपय नाट्याचार्य इसमें प्रतिमुखसन्धि की योजना मानते हैं। रासक का उदाहरण 'मेनकाहितम्' है।

11) संलापक –

अथ संलापकम् –

संलापकेऽङ्काश्चत्वारस्त्रयो वा नायकः पुनः।

पाषण्डः स्याद्रसस्तत्र शृङ्गारकरुणेतरः।।291।।

भवेयुः पुरसंरोधच्छलसंग्रामविद्रवाः।

न तत्र वृत्तिर्भवति भारती न च कैशिकी।।292।।

यथा– मायाकापालिकम्।

संलापक में तीन अथवा चार अंक होते हैं तथा इसका नायक कोई धर्मद्रोही होता है। इसमें शृंगार और करुण को छोड़कर कोई भी रस प्रधानपूर्वक अभिव्यक्त हो सकता है। इस संलापक में नगर का अवरोध, छल, संग्राम और भ्रम-संभ्रम का चित्रण किया जाता है। इसमें भारती और कैशिकी वृत्ति नहीं रहती। संलापक का उदाहरण 'मायाकापालिक' है।

12) श्रीगदित –

अथ श्रीगदितम् –

प्रख्यातवृत्तमेकाङ्कं प्रख्यातोदात्तनायकम्।

प्रसिद्धनायिकं गर्भविमर्शाभ्यां विवर्जितम्।।293।।

भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम्।

मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम्।।294।।

यथा– क्रीडारसातलम्।

श्रीगदित नामक उपरूपक में इतिवृत्त लोकप्रसिद्ध रहता है तथा इसमें एक अंक होता है, श्रीगदित का नायक प्रसिद्ध और उदात्तप्रकृति का होता है। श्रीगदित की नायिका प्रसिद्ध होती है तथा इसमें गर्भसन्धि और विमर्शसन्धि का अभाव रहता है। श्रीगदित में भारतीवृत्ति का प्रयोग अधिक होता है, इसमें 'श्री' पद

का प्रयोग अनेकत्र होता है। इसी कारण से इस उपरूपक का नाम नाट्याचार्यों ने 'श्रीगदित' रखा है। श्रीगदित का उदाहरण 'क्रीडारसातलम्' है।

श्रीरासीना श्रीगदिते गायेत्किञ्चित्पठेदपि।

एकाङ्को भारतीप्राय इति केचित्प्रचक्षते।।295।।

ऊह्यमुदाहरणम्।

श्रीगदित की एक अन्य स्थिति कुछ नाट्याचार्यों के मत में देखी जाती है। उसके अनुसार श्रीवेशधारी कोई स्त्री मंच पर बैठकर कुछ गाती है और कुछ पढ़ती है, यह एक अंक का होता है और इसमें अधिकांशतः भारती वृत्ति का प्रयोग होता है। ऐसे उदाहरण को स्वयं ही ढूँढ़ना चाहिए।

13) शिल्पक –

अथ शिल्पकम् –

चत्वारः शिल्पकेऽङ्काः स्युश्चतस्त्रो वृत्तयस्तथा।

अशान्तहास्याश्च रसा नायको ब्राह्मणो मतः।।296।।

वर्णनाऽत्र श्मशानादेर्हीनः स्यादुपनायकः।

सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्त्येतस्य तानि तु।।297।।

आशंसातर्कसंदेहतापोद्वेगप्रसक्तयः।

प्रयत्नग्रथनोत्कण्ठावहित्थाप्रतिपत्तयः।।298।।

विलासालस्यवाष्पाणि प्रहर्षाश्वासमूढताः।

साधनानुगमोच्छ्वाससविस्मयप्राप्तयस्तथा।।299।।

लाभविस्मृतिसंफेटा वैशारद्यं प्रबोधनम्।

चमत्कृतिश्चेत्यमीषां स्पष्टत्वाल्लक्ष्म नोच्यते।।300।।

संफेटग्रथनयोः पूर्वमुक्तत्वादेव लक्ष्म सिद्धम्।

यथा– कनकावतीमाधवः।

शिल्पक नामक उपरूपक में चार अंक होते हैं इसमें चार वृत्तियाँ होती हैं। शिल्पक में शान्त और हास्य को छोड़कर सभी रस होते हैं इसका नायक ब्राह्मण होता है। शिल्पक में श्मसान आदि का चित्रण रहता है तथा इसका उपनायक अधम प्रकृति का होता है। इसमें सत्ताईस अंग होते हैं जो 1) आशंसा, 2) तर्क, 3) सन्देह, 4) ताप, 5) उद्वेग, 6) प्रसक्ति, 7) प्रयत्न, 8) ग्रथन, 9) उत्कण्ठा, 10) अवहित्था, 11) प्रतिपत्ति, 12) विलास, 13) आलस्य, 14) वाष्प, 15) प्रहर्ष, 16) आश्वास, 17) मूढता, 18) साधनानुगम, 19) उच्छ्वास, 20) विस्मय, 21) प्राप्ति, 22) लाभ, 23) विस्मृति, 24) संफेट, 25) वैशारद्य, 26) प्रबोध, 27) चमत्कृति, इन अंगों के लक्षण इनके नामों से ही स्पष्ट हैं। इन सत्ताईस अंगों में संफेट और ग्रथन नामक अंग पारिभाषिक है इनको पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। शिल्पक का उदाहरण 'कनकावतीमाधव' है।

14) विलासिका –

अथ विलासिका –

श्रृङ्गारबहुलैकाङ्का दशलास्याङ्गसंयुता।

विदूषकविटाभ्यां च पीठमर्देन भूषिता।।301।।

हीना गर्भविमर्शाभ्यां सन्धिभ्यां हीननायका।

स्वल्पवत्ता सुनेपथ्या विख्याता सा विलासिका।।302।।

केचित्तु तत्र विलासिकास्थाने विनायिकेति पठन्ति। तस्यास्तु 'दुर्मल्लिकायामन्तर्भावः' इत्यन्ये।

विलासिका नामक उपरूपक में श्रृंगार रस का बाहुल्य होता है तथा इसमें एक अंक होता है, इसमें लास्य के दस अंक विद्यमान रहते हैं। यह विदूषक और विट के साथ पीठमर्द से युक्त होता है। विलासिका में गर्भसन्धि और विमर्शसन्धि नहीं रहती तथा इसका नायक अधम प्रकृति का होता है। विलासिका का वृत्त छोटा होता है इसमें वेशभूषा का ज्यादा महत्त्व है। कुछ नाट्याचार्य विलासिका को 'विनायिका' कहा करते हैं और कुछ 'विनायिका' को 'दुर्मल्लिका' में गतार्थ करते हैं।

15) दुर्मल्लिका –

अथ दुर्मल्लिका –

दुर्मल्ली चतुरङ्का स्यात् कैशिकीभारतीयुता।

अगर्भा नागरनरा न्यूननायकभूषिता।।303।।

त्रिनालिः प्रथमोऽङ्कास्यां विटक्रीडामयो भवेत्।

पञ्चनालिर्द्वितीयोऽङ्को विदूषक विलासवान्।।304।।

षण्णालिकस्तृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान्।

चतुर्थो दशनालिः स्यादङ्कः क्रीडितनागरः।।305।।

यथा बिन्दुमती।

दुर्मल्लिका नामक उपरूपक में चार अंक होते हैं इसमें कैशिकी और भारती वृत्ति की योजना रहती है। दुर्मल्लिका में गर्भसन्धि नहीं रहती इसके पात्र सभ्य होते हैं तथा नायक नीच प्रकृति का होता है। इसका प्रथम अंक त्रिनाली अर्थात् छः घटी में समाप्त होता है जिसमें विट की क्रीड़ाओं का चित्रण रहता है। द्वितीय अंक 10 घटी में समाप्त होता है इस अवधि में विदूषक के विविध विलासों का चित्रण दिखाया जाता है। दुर्मल्लिका का तीसरा अंक 12 घड़ी में समाप्त होता है जिसमें पीठमर्द (नायक सहायकों) के विलास का चित्रण रहता है। चौथा अंक 20 घड़ी का होता है जहाँ नायक के विविध क्रीड़ाओं का चित्रण रहता है। दुर्मल्लिका का उदाहरण 'बिन्दुमती' है।

16) प्रकरणि –

अथ प्रकरणिका –

नाटिकैव प्रकरणी सार्थवाहादिनायका।

समानवंशजा नेतुर्भवेद्यत्र च नायिका।।306।।

मृग्यमुदाहरणम्।

प्रकरणि उस नाटिका को कहा जाता है जिसका नायक सेठ रहता है, और इसकी नायिका सेठानी अर्थात् नायक की जाति/बिरादरी की होती है। इसका उदाहरण विद्वानों को स्वयं ही ढूँढ़ना चाहिए।

17) हल्लीश –

अथ हल्लीशः –

हल्लीश एक एवाङ्कः सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः।

वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्ज्वला।

मुखान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः।।307।।

यथा– केलिरैवतकम्।

हल्लीश नामक उपरूपक में एक अंक होता है तथा इसमें सात, आठ अथवा दस स्त्री पात्र होती हैं। हल्लीश का नायक उदात्त वाणी बोलने वाला होता है तथा इसमें कैशिकी वृत्ति की उज्ज्वल योजना की जाती है। इसमें मुखसन्धि और निर्वहणसन्धि रहती हैं तथा अनेकविध ताल और लयों की स्थिति देखी जाती है। हल्लीश का उदाहरण 'केलिरैवतकम्' है।

18) भाणिका –

अथ भाणिका –

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुखनिर्वहणान्विता।

कैशिकीभारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता।।308।।

उदात्तनायिका मन्दनायकात्राङ्गसप्तकम्।

उपन्यासोऽथ विन्यासो विबोधः साध्वसं तथा।।309।।

समर्पणं निवृत्तिश्च संहार इति सप्तमः।

उपन्यासः प्रसङ्गेन भवेत्कार्यस्य कीर्तनम्।।310।।

निर्वेदवाक्यव्युत्पर्तिर्विन्यास इति स स्मृतः।

भ्रान्तिनाशो विबोधः स्यान्मिथ्याख्यानं तु साध्वसम्।।311।।

सोपालम्भवचः कोपपीडयेह समर्पणम्।

निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते।।312।।

संहार इति च प्राहुर्यत्कार्यस्य समापनम्।

स्पष्टान्युदाहरणानि।

यथा– कामदत्ता।

एतेषां सर्वेषां नाटकप्रकृतित्वेऽपि यथौचित्यं यथालाभं नाटकोक्तविशेषपरिग्रहः। यत्र च नाटकोक्तस्यापि पुनरुपादानं तत्र तत्सद्भावस्य नियमः।

भाणिका नामक उपरूपक वेशभूषा प्रधान होता है। यह मुखसन्धि और निर्वहणसन्धि से युक्त रहता है। भाणिका में कैशिकी तथा भारती वृत्ति रहा करती है तथा इसमें एक अंक होता है। भाणिका की नायिका उदात्त प्रकृति की होती है तथा इसका नायक नीच प्रकृति का होता है, इसमें सात अंग होते हैं जिनके नाम क्रमशः – उपन्यास, विन्यास, विबोध, साध्वस, समर्पण, निवृत्ति और संहार हैं। इसमें प्रसंगानुसार कार्य का कीर्तन उपन्यास कहलाता है। निर्वेदात्मक वाक्य की योजना को विन्यास कहा जाता है। भ्रान्ति का नाश विबोध कहा जाता है तथा मिथ्या कथन साध्वस कहा जाता है। कोप से उत्पन्न पीड़ा से उलाहना करना समर्पण है। उदाहरण को स्थापित करना निवृत्ति कहा जाता है। कार्य का समापन संहार कहा जाता है। इन समस्त अंगों का उदाहरण स्पष्ट है। भाणिका का प्रसिद्ध उदाहरण 'कामदत्ता' है। यद्यपि सभी उपरूपक नाटक की समानता रखते हैं अतः इन्हें नाटक में अन्तर्भूत किया जा सकता है किन्तु इनमें नाटकों से कुछ-न-कुछ विशेषता होने से इन्हें रूपकों से भिन्न उपरूपक कहा जाता है।

11.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से आपका रूपक, उपरूपक जैसे रोचक तथा महत्त्वपूर्ण विषयों से परिचय हुआ। आचार्य विश्वनाथ काव्य का दृश्य और श्रव्य रूप में दो भेद करते हैं। इसमें खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि भेद श्रव्य काव्य के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि इन काव्यों में श्रव्य अर्थात् श्रवण की प्रधानता होती है इन्हें हम कानों के माध्यम से सुनते हैं तथा दृश्य काव्य वह होता है जिसे हम आँखों से देखते हैं। यद्यपि दृ श्य काव्य में आँखों के साथ कानों का भी समान रूप से उपयोग होता है किन्तु इसमें नेत्र द्वारा देखने की प्रधानता रहती है, इस काव्य भेद से कानों की अपेक्षा दर्शन में अधिक चमत्कार होता है इसलिए यह दृश्यकाव्य कहा जाता है। इसे रूपक भी कहा जाता है, रूपक के नाटक, प्रकरण आदि दस भेद हैं। रूपक के निरूपण के पश्चात् विश्वनाथ ने नाटिका आदि उपरूपकों का निरूपण किया है जिसका अध्ययन आपने प्रस्तुत इकाई में किया।

11.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- साहित्यदर्पणम्,व्याख्याकार आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2010
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकारः पं. हरेकान्तमिश्रः, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली,2017
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकार श्रीशालिग्रामशास्त्रि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,1986।
- साहित्यदर्पण , व्याख्याकार मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः, अक्षयवट प्रकाशन प्रयागराज।
- साहित्यदर्पणः, (मंजू–संस्कृतव्याख्या– हिन्द्यनुवादोपेतः) व्याख्याकार लोकमणिदाहालादि– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, स0 2054
- साहित्यदर्पण–विश्वनाथ, (व्याख्याकार)सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1988

11.7 अभ्यास प्रश्न

1 रूपक के नाटक नामक भेद को स्पष्ट कीजिए।

2 रूपक के समवकार नामक भेद को स्पष्ट कीजिए।

3 उपरूपक क्या है? स्पष्ट कीजिए।

इकाई 12 नाटक के अंग

इकाई की रूपरेखा

12.0उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- साहित्यदर्पण के अनुसार नाटक के अंगों का अध्ययन करेंगे।
- नाटक की सूक्ष्म विशेषताओं एवं आवश्यकताओं का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- नाटक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलियों एवं उनके अर्थों का भी ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- संस्कृत के अनेक नाटक हैं उनका नाट्यप्रयोग में नाटक के अंगों का कैसे उपयोग किया जाता है इससे भी परिचित होंगे।

12.1 प्रस्तावना

दृश्य काव्य ऐसे काव्य होते हैं जिनका समाज के मनोरंजन या विशेष शिक्षा प्रदान करने के लिए अभिनय किया जाता है। दृश्यकाव्य जनप्रिय होता है इसीलिए 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहा जाता है। दृश्य काव्य रूपक एवं उपरूपक के भेद से दो प्रकार के होते हैं। आचार्यों ने रूपक के नाटक, प्रकरण, भाण आदि दस भेद स्वीकार किये हैं तथा उपरूपकों के भी 18

भेद माने हैं। रूपकों का अभिनय करते समय जनान्तिक, अपवारित, सूत्रधार, पताकास्थानक, आकाशभाषित आदि शब्दों का प्रयोग होता है। प्रस्तुत इकाई में आप इन्हीं के लक्षणों एवं उदाहरणों का अध्ययन करेंगे।

12.2 नाटक के अंग

जिस प्रकार मानव का शरीर हृदय, मस्तिष्क आदि अंगों का योग है और उन सभी का उनकी स्वयं की कार्यशैलियों के आधार पर अपना-अपना महत्त्वपूर्ण स्थान भी है। मानव शरीर के इन सभी अंगों में से किसी एक भी अंग के न होने पर मनुष्य का शरीर पूर्णता को प्राप्त नहीं होता है। उसी प्रकार साहित्य विधा में नाटक का भी अपना शरीर होता है जिसमें नान्दी, प्रस्तावना आदि अनेक अंग होते हैं। नाटक के इन सभी अंगों में से यदि किसी अंग को अलग कर दिया जाये तो नाटक अपना अस्तित्त्व खो देता है। इसलिए नाटक तभी नाटक कहलाने का अधिकारी है जब वह अपने नान्दी आदि सभी अंगों से संयुक्त होता है। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में नाटक के जो अंग माने हैं उनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार से किया जा सकता है –

12.2.1 नान्दी

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने नाटक के लिए रंगशाला आदि का निर्माण कर लेने के पश्चात् नाटक का सबसे प्रथम अंग नान्दी को माना है। नान्दी शब्द की व्युत्पत्ति 'नन्द्+षञ्+ङीष्' से होती है जिसका अर्थ होता है–'नन्दन्ति देवा अत्र' अर्थात् किसी भी हर्ष या खुशी में, विशेषकर नाटक के सन्दर्भ में नाटक का आरम्भिक मंगलाचरण जिसमें, देवताओं की आराधना या प्रार्थना की जाती है, नान्दी कहलाता है। यह नान्दी नटों (नाटक के सभी पात्रों) के द्वारा की जाती है और यह नमस्कारात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक और आशीर्वादात्मक से तीन प्रकार की होती है। आचार्य विश्वनाथ ने नान्दी का लक्षण करते हुए कहा है कि –

तस्याः स्वरूपमाह –

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।

देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।।24।।

माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी।

पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत।।25।।

अर्थात् आशीर्वादात्मक वचनों से संयुक्त देवता, ब्राह्मण और राजा आदि की स्तुति जिससे की जाती है, उसे नान्दी की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। इस नान्दी में बारह या आठ पदों का योग होता है और इन पदों में सुबन्त, तिङन्त और श्लोक के चतुर्थांश (पाद) का भी

ग्रहण किया जाता है। साथ ही इस नान्दी में मंगलसूचक वस्तुओं, शंख, चन्द्र, चक्रवाक और कुमुद आदि का प्रयोग किया जाता है।

नान्दी को उसके अष्टपदा और द्वादशपदा से समझने से पहले नान्दी को एक अन्य उदाहरण से समझने का प्रयास करते हैं जहाँ नान्दी का लक्षण स्पष्ट घटित होता है।

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी

यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।

अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते

स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायस्तु वः।।

वेदान्त में जिन्हें पृथ्वी और आकाश में व्याप्त एक पुरुष कहा गया है, ईश्वर शब्द जिनमें यथार्थ रूप में अनुगत है और जिनको प्राणादि नियमन करने वाले मुमुक्षु पुरुष हृदय के भीतर ढूँढ़ते हैं, स्थिर योग से सुलभ वे भगवान् शंकर हमारी रक्षा करें।

इस पूर्वोक्त उदाहरण में न तो अष्टपद है, न द्वादश पद है और न ही मंगल वस्तुओं का ही प्रयोग किया गया है और न ही इसमें स्तुति ही की गयी है, इसलिए यहाँ नान्दी का लक्षण घटित नहीं हो रहा है। अतः यहाँ नान्दी नहीं है। यदि नान्दी नहीं है तब क्या है? पूर्वरंग का रङ्गद्वार नामक अंग है, क्योंकि रंगद्वार में सर्वप्रथम कायिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनय होता है और यहाँ कायिक अभिनय का ही बोध हो रहा है। साथ ही यहाँ नटों के द्वारा नटों की अभिनय की वेशभूषा को भी धारण कर लिया गया है जो कि नान्दी में नहीं होती है। अतः यहाँ नान्दी नहीं है, बल्कि रङ्गद्वार है।

आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि नान्दीपाठ करने से पूर्व पूर्वरंग होना चाहिए। अब यह पूर्वरंग क्या है? इसको बताते हुए आचार्य ने कहा है –

तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः सभापूजा ततः परम्।

कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याप्यथामुखम्।।21।।

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।

कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते।।22।।

प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि।

तथाऽप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये।।23।।

नाटक के आरम्भ में पूर्वरंग होना चाहिए। वैसे पूर्वरंग का सामान्य अर्थ सभापूजन होता है किन्तु पूर्वरंग को शब्दशः देखा जाये तो पूर्वरंग दो शब्दों का योग है – पूर्व + रंग। पूर्व का

अभिप्राय होता है– नायक आदि के आरम्भ में तथा रंग का अभिप्राय होता है – रंगमण्डप या नाट्यशाला में। इस तरह जब पूर्व और रंग को एक समास करके पढ़ा जाता है तब इसका अर्थ होता है– नाट्यशाला में नाटक आदि के विघ्नों की शान्ति के लिए कुशीलवा (पारिपार्श्विक लोग) जो कुछ प्रयोग करते हैं वह पूर्वरंग कहलाता है। इस पूर्वरंग के प्रत्याहारादि बहुत से अंग हैं परन्तु रंगमंच पर प्रस्तुति के समय किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो इसके लिए नान्दीपाठ आवश्यक होता है।

नान्दी को उसके स्पष्ट लक्षणों के घटित होने के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने उदाहरण देते हुए कहा है –

1 अष्टपदा नान्दी –

अष्टपदा यथा अनर्घराघवे– 'निष्प्रत्यूहम्' इत्यादि।

निष्प्रत्यूहपास्महे भगवतः कौमोदकीलक्ष्मणः

कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मती लोचने।

याभ्यामर्धविवोधमुग्धमधुरश्रीरर्घनिद्रायितो

नाभीपल्लपुण्डरीकमुकुलः कम्बोः सपत्नीकृतः।।

विरमति महाकल्पे नाभिपथैकनिकेतन–

स्त्रिभुवनपुरः शिल्पी यस्य प्रतिक्षणमात्मानः।

किमधिकारिणा कीदृक्कस्य व्यवस्थितिरित्यसा–

मुदरमविशद् द्रष्टुं तस्मै जगन्निधये नमः।। मुरारी, अनर्घराघवम्.1.1

(विघ्नशान्तिके लिए कौमोदकी नामक गदा से सुशोभित भगवान् विष्णु के उन नयनों की उपासना करते हैं जिनमें कोक की प्रीति तथा चकोर के व्रतान्त भोजन में उपयुक्त सूर्य-चन्द्रात्मक ज्योति विद्यमान है, जिन सूर्यचन्द्रात्मक नयनों के सम्पर्क से आधा विकसित तथा आधा मुकुलित भगवान् का नाभि कमल शङ्ख की समता को करा दिया जाता है।)

इस श्लोक में नान्दी के शङ्ख, गदा, कमल आदि लक्षण पूर्णतः घटित हो रहे हैं। साथ ही इसमें 'निष्प्रत्यूहपास्महे' से लेकर 'जगन्निधये नमः' तक दोनो श्लोकों को मिलाकर आठ पदों का भी प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ अष्टपदा नान्दी है।

2 द्वादशपदा नान्दी –

द्वादशपदा यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम्–

शिरसि धृतसुरापगे स्मरारावरुणमुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्रपुत्री।

अथ चरणयुगानते स्वकान्ते स्मितसरसा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः।। पुष्पमालायाम्।

गिरीन्द्रपुत्री यानि हिमालय की पुत्री अर्थात् गङ्गा को शिर पर रखने से सपत्नी (सौत) से विद्वेष के कारण पार्वती का मुख रक्त (लाल) हो गया और फिर जब भगवान् शंकर के द्वारा उनकी प्रार्थना की गयी तब प्रसन्न हुईं। इस तरह वे पार्वती हमारे लिए भी कल्याणकारी हों।

इसमें नान्दी के लक्षण पूर्णतः घटित हो रहे हैं। इसमें नटों आदि के द्वारा प्रार्थना की जा रही है, इसमें चन्द्रमा आदि का भी वर्णन देखने को मिलता है। इसमें पार्वती से कल्याण के लिए प्रार्थना भी की गयी है। इसके साथ ही इस श्लोक के पदों पर भी दृष्टिपात करें तो इसमें शिरसि आदि द्वादश ही पद हैं। अतः यहाँ द्वादशपदा नान्दी है।

12.2.2 प्रस्तावना

नाटक में प्रस्तावना का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। प्रस्तावना को आमुख नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। नाटक में जब सूत्रधार नटी या पारिपार्श्विक से अपने कार्य के सम्बन्ध में वार्तालाप करता है, किन्तु उक्ति की विशेषता के कारण नाट्यकथा की सूचना भी प्राप्त हो जाती है, वह प्रस्तावना या आमुख कहलाती है। यह प्रस्तावना या आमुख भारती वृत्ति के चार अंगों में प्ररोचना, वीथी और प्रहसन के बाद चतुर्थ स्थान पर स्थापित की जाती है। आचार्य विश्वनाथ ने प्रस्तावना के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि –

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।

सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते।।31।।

चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।

आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा।।32।।

उद्‌घात्य(त)कः कथोद्‌घातः प्रयोगातिशयस्तथा।

प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः।।33।।

जहाँ नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक सूत्रधार के साथ अपने कार्य के विषय में चित्र-विचित्र वाक्यों से इस प्रकार बातचीत करें, जिससे प्रस्तुत कथा की सूचना भी प्राप्त हो जाती है, आमुख कहते हैं और उस आमुख का नाम ही प्रस्तावना है। प्रस्तावना के पाँच भेद होते हैं– 1. उद्‌घातक, 2. कथोद्‌घात, 3. प्रयोगातिशय, 4. प्रवर्तक और 5. अवलगित।

1. उद्‌घातक का लक्षण –

पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः।

योजयन्ति पदैरन्यैः स उद्‌घात्यक उच्यते।।34।।

यथा मुद्रराक्षसे सूत्रधारः –

'क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।

अभिभवितुमिच्छति बलात्'–

इत्यन्तरम्– '(नेपथ्ये)

आः, क एष मयि जीवति चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति'। इति।

अत्रान्यार्थवन्त्यपि पदानि हृदयस्थार्थागत्या अर्थान्तरे सङ्क्रमय्य पात्रप्रवेशः।

अप्रतीतार्थक (अनिश्चित अर्थ वाले) पदों के अर्थ की प्रतीति कराने के लिए जहाँ अन्य अतिरिक्त पदों को जोड़ दिया जाता है, उसे 'उद्घात्यक' कहा जाता है।

उदाहरण– मुद्राराक्षस नाटक में सूत्रधार के द्वारा नटी से यह कहा जाना कि **'क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसंपूर्णमण्डलमिदानीम् अभिभवितुमिच्छति बलात्'**अर्थात् केतु के साथ क्रूरग्रह राहु पूर्णमण्डल चन्द्र को अभी बल पूर्वक ग्रस्त करना चाहता है– इस वाक्य के कहने के पश्चात् ही(कुटिल बुद्धिवाला मलयकेतु सहित राक्षस अभी तत्काल राज्य प्राप्त होने से मजबूत नहीं बने चन्द्रगुप्त को पराजित करना चाहता है। चाणक्य ने ऐसा समझ लिया) नेपथ्य से चाणक्य के द्वारा यह आवाज आती है कि–**'आः क एष मयि जीवति चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति'**अर्थात् अरे, कौन है जो मेरे रहते चन्द्रगुप्त को पराजित करना चाहता है? अब इस प्रसंग में वक्ता का अभिप्राय चन्द्र का प्रयोग करके चन्द्रमा से है किन्तु चाणक्य ने इसे चन्द्रगुप्त के पक्ष में समझकर अन्य वाक्य कहकर अन्य वाक्यार्थ की प्रतीति करा दी है। अतः यहाँ प्रस्तावना का उद्घात्यक नामक अंग है।

2. कथोद्घात का लक्षण –

सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा।

भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते।।35।।

जहाँ सूत्रधार का वाक्य या वाक्यार्थ लेकर कोई पात्र प्रवेश करे उसे कथोद्घात कहा जाता है। यह कथोद्घात दो प्रकार का होता है– क. वाक्य को कहते हुए पात्र का आना, तथा ख. वाक्य के अर्थ को बताते हुए पात्र का आना।

क. वाक्य को कहते हुए पात्र का प्रवेश –

रत्नावली नाटिका में सूत्रधार के द्वारा निम्नलिखित वाक्य कहते हुए प्रवेश करना कथोद्घात का प्रथम प्रकार है। जैसा कि कहा गया है –

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्–

द्वीपदन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।

आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः।।

सूत्रधारेण पठिते– (नेपथ्ये) साधु भरतपुत्र! साधु! एवमेतत्। कः सन्देहः? द्वीपादन्यस्मादपि– इत्यादि पठित्वा यौगन्धरायणस्य प्रवेशः।

यदि प्रारब्ध अनुकूल हो तो वह दूसरे द्वीप से, समुद्र के मध्य से और दिशाओं के अन्त से भी वस्तुओं को लाकर उपस्थित कर देता है।

वाक्य को लेकर पात्रप्रवेश रूप कथोद्घात का उदाहरण जैसे रत्नावली में– 'द्वीपादन्यस्मादपि' इत्यादि सूत्रधार के कहने पर (नेपथ्य से) 'यह ऐसा ही है। इसमें क्या सन्देह है?' बोलते हुए 'द्वीपादन्यस्मादपि' पुनः बोलते हुए यौगन्धरायण प्रवेश करता है।

ख. वाक्य के अर्थ को बताते हुए पात्र का प्रवेश –

वेणीसंहार नाटक में सूत्रधार के द्वारा मंगल पाठ पढ़ा ही जा रहा था कि उसके अर्थ के लिए प्रत्यर्थ को बताते हुए भीमसेन का प्रवेश करना कथोद्घात का दूसरा प्रकार है। जैसा कि कहा गया है–

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः।।

इति सूत्रधारेण पठितस्य वाक्यस्यार्थं गृहीत्वा– '(नेपथ्ये) आः दुरात्मन्! वृथा मंगलपाठकः! कथं स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः?' ततः सूत्रधारनिष्क्रान्तौ भीमसेनस्य प्रवेशः।

शत्रुओं के शान्त हो जाने से वैर की अग्नि के शान्त होने पर कृष्ण के साथ पाण्डव प्रसन्न हों। वे कौरव अपने भृत्यों के साथ स्वस्थ हों, जिनके अधीन सारी पृथ्वी अनुरागयुक्त है और जिनके प्रति कलहभाव मिट चुका है।

सूत्रधार द्वारा पठित इस वाक्य के अर्थ को लेकर (नेपथ्य में) 'अरे नीच! व्यर्थ के मंगलपाठ को पढ़ने वाले! मेरे जीवित रहते हुए कौरव कैसे स्वस्थ हो सकते हैं?' इसके पश्चात् सूत्रधार के रंगमंच से निकल जाने पर भीमसेन का प्रवेश होता है। यह प्रस्तावना का कथोद्घात नामक भेद है।

3. प्रयोगातिशय –

यदि प्रयोग एकस्मिन्प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।

तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्रयोगातिशयस्तदा।।36।।

यथा कुन्दमालायाम्– (नेपथ्ये) इत इत इतोऽवतरत्वार्या।

सूत्रधारः – कोऽयं खल्वार्याह्वानेन साहायकमपि मे सम्पादयति। (विलोग्य) कष्टमतिकरुणं वर्तते।

यदि एक ही प्रयोग का प्रारम्भ हो जाये और उसके द्वारा पात्र का प्रवेश हो तो उसे 'प्रयोगातिशय' कहा जाता है। कहने का भाव है कि जहाँ सूत्रधार की योजना के अनुसार 'यह मैं हूँ' ऐसा कहकर पात्र का प्रवेश होता है उसे प्रयोगातिशय कहते हैं।

दिङ्नाग के कुन्दमाल में 'इत इतोऽवतरत्वार्या' अर्थात् इधर से आईये आर्य, इधर से ऐसा सुनकर सूत्रधार के द्वारा यह कहा जाना कि 'कोऽयम्' अर्थात् यह कौन हैं– कहना और पुनः देखकर कि कष्ट है यह अत्यन्त करुण दृश्य है–

लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति रामेण लोकपरिवादभयाकुलेन।

निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वीं सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्।।

लंकापति रावण के भवन में अधिक समय तक स्थित रहने के कारण हुए लोक प्रवाद के भय से व्याकुल राम द्वारा गर्भवती सीता को जनपद से त्याग दिया गया है और सीता को वन मे ले जाने के लिए लक्ष्मण तत्पर हैं।

अत्र नृत्यप्रयोगार्थं स्वभार्याह्वानमिच्छता सूत्रधारेण 'सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्' इति सीतालक्ष्मणयोः प्रवेशं सूचयित्वा निष्क्रान्तेन स्वप्रयोगमतिशयान एव प्रयोगः प्रयोजितः।

यहाँ पर नृत्यप्रयोग के लिए अपनी पत्नी नटी को बुलाने के लिए इच्छुक सूत्रधार कहता है '**यह लक्ष्मण सीता को वन ले जा रहे हैं**' यह कहकर सीता और लक्ष्मण के प्रवेश की सूचना देकर स्वयं रंगमंच से निकलकर अपने नृत्यविषयक प्रयोग का अतिशय (अतिक्रमण) कर दिया। अतः यहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना का भेद है।

4. प्रवर्तक –

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत्।

तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम्।।37।।

जहाँ सूत्रधार उपस्थित समय का वर्णन करे और उसी के आश्रय से पात्र का प्रवेश हो उसे 'प्रवर्तक' कहा जाता है। यथा–

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः।

उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः।।

दिङ्नाग के कुन्दमाल में ही सूत्रधार द्वारा उस समय पर चल रही शरद् ऋतु का वर्णन करते हुए कहा गया है–

दृढ़ तमोगुण वाले भयानक एवं मेघ के समान श्याम वर्ण वाले रावण को मारकर सुग्रीव, विभीषण आदि बन्धुजनों के जीवन को सुरक्षित करने वाले और प्रकाश रूप निर्मल खड्ग को प्राप्त करने वाले विशुद्ध कान्ति से युक्त राम के समान गहन अन्धकार वाले मेघसमय को ध्वस्त कर बन्धुजीव आदि पुष्पों की वृद्धि करने वाला तथा प्रकाशस्वरूप एवं स्वच्छ चन्द्ररूप हास्य (विकास) को प्राप्त करने वाला तथा विशुद्ध कान्ति से युक्त यह शरद् ऋतु का समय प्राप्त हुआ।

इत्यादि। ('ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः'।)

इसके पश्चात् राम का प्रवेश होता है।इस प्रकार समय के वर्णन के आश्रय से राम का प्रवेश हुआ इसलिए यह 'प्रवर्तक' कहा जाता है।

5. अवलगित –

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते।

प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः।।38।।

जहाँ एक प्रयोग में सादृश्यादि के द्वारा समावेश करके किसी पात्र की सूचना (अन्यकार्य) सिद्ध किया जाये उसे 'अवलगित' कहा जाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त के द्वारा सारङ्ग गीत को सुनते हुए और सारङ्ग का पीछा करते हुए कण्व के आश्रम मे पहुँच जाना अवलगित को सिद्ध करता है। जैसा कि कहा गया है–

यथा– शाकुन्तले –

सूत्रधारो नटीं प्रति।

तवास्मि गीतरागेण हरिणा प्रसभं हृतः।

एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा।।

इत्यादि। ततो राज्ञः प्रवेशः।

इस प्रकार नाटक में प्रस्तावना के अंगों को प्रसंगवश प्रयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वीथ्यंगानि एवं नखकुट्ट नामक प्रस्तावना का भी भेद माना गया है।

अत्र आमुखे। उद्घात्य(त)कावलगितयोरितराणि वीथ्यंगानि वक्ष्यमाणानि।

नखकुट्टस्तु–

नेपथ्योक्तं श्रुतं यत्र त्वाकाशवचनं तथा।।39।।

समाश्रित्यापि कर्तव्यमामुखं नाटकादिषु।

एषामामुखभेदानामेकं कश्चित्प्रयोजयेत्।।40।।

तेनार्थमथ पात्रं वा समाक्षिप्यैव सूत्रधृक्।

प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रयोजयेत्।।41।।

नेपथ्यवचन और आकाशभाषित वाक्य सुनकर उनका आश्रय लेकर नाटक आदि में प्रस्तावना करनी चाहिए। नखकुट्ट तो अप्रविष्टपात्रसूचित पात्र प्रवेश वाला होता है। इसको नाटकों में अपनाया जा सकता है।

इस प्रकार प्रस्तावना के भेदों में से किसी भेद का प्रयोग करके सूत्रधार प्रस्तावना के अन्त में रंगभूमि से निकल जाये तब नाटकीय वस्तु का अभिनय प्रारम्भ करें।

12.2.3 इतिवृत्त

नाटक की कथावस्तु को इतिवृत्त कहा जाता है। यह इतिवृत्त दो प्रकार का होता है–

1. आधिकारिक, 2. प्रासंगिक। आचार्य विश्वनाथ ने भी कहा है –

इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते।

आधिकारिकमेकं स्यात्प्रासङ्गिकमथापरम्।।42।।

1. आधिकारिक – नाटक आदि का जो इतिवृत्त दूर तक जाता है और कथावस्तु का मूलाधार होता है वह इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है। जैसा कि आचार्य विश्वनाथ ने कहा है–

अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।

तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते।।43।।

फले प्रधान फले। यथा बालरामायणे रामचरितम्।

अर्थात् अधिकार का अर्थ होता है प्रधान फल का स्वामित्व और उस स्वामित्व को जो प्राप्त करता है वह उस फल का स्वामी कहलाता है। उस प्रधान फल के स्वामी से नाटक में जो इतिवृत्त जुड़ा होता है उसे कवियों ने आधिकारिक इतिवृत्त कहा है। **उदाहरण**– रामायण में राम की कथावस्तु आधिकारिक इतिवृत्त है।

2. प्रासङ्गिक – नाटक आदि का जो इतिवृत्त प्रधान कथावस्तु का साधक इतिवृत्त होता है उस इतिवृत्त को प्रासङ्गिक इतिवृत्त कहा जाता है। यह प्रासङ्गिक इतिवृत्त दो प्रकार का होता है– 1. पताका, 2. प्रकरी। पताका इतिवृत्त प्रधान इतिवृत्त के साथ दूर तक चलता है

और प्रकरी इतिवृत्त प्रधान के साथ कुछ दूरी तक ही चलता है। आचार्य विश्वनाथ ने कहा है –

अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते।

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि।।44।।

व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।

यथा– रामचरिते सुग्रीवादेः, वेण्यां भीमादेः, शाकुन्तले विदूषकस्य चरितम्।

अर्थात् इस आधिकारिक इतिवृत्त के उपकार के लिए प्रासङ्गिक इतिवृत्त होता है। इस प्रासङ्गिक इतिवृत्त में जो दूर तक व्याप्त होता है उसे पताका इतिवृत्त कहा जाता है। जैसे – रामचरितसम्बन्धी रूपकों में सुग्रीव आदि का वृत्तान्त, वेणीसंहार में भीमसेन सम्बन्धी वृत्तान्त तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में विदूषक सम्बन्धी वृत्तान्त।

पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम्।।67।।

गर्भे संधौ विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते।

यथा– सुग्रीवादेः राज्यप्राप्त्यादि। यत्तु मुनिनोक्तम्

'आ गर्भादा विमर्शाद्वा पताकाविनिवर्तते'।। इति। तत्र पताकेति। पताका नायकफलं निर्वहणपर्यन्तमपि पताकायाः प्रवृत्तिदर्शनात् इति व्याख्यातमभिनवगुप्तपादैः।

पताका नायक का अपना कोई भिन्न फल नहीं होता है, बल्कि वह प्रधान के फल को ही सिद्ध करता है। गर्भ या विमर्श सन्धि के पहले उसका निर्वाह (पताकानायकफल) समाप्त हो जाता है। अभिनवगुप्त ने भी यही माना है। पताका से पताका नायक का फल समझना चाहिए क्योंकि निर्वहण सन्धि तक ही पताका की प्रवृत्ति देखी जाती है इसलिए पताकानायक का फल प्रधान चरित्र के मध्य में ही समाप्त हो जाता है अर्थात् विमर्श सन्धि तक। पताका तो निर्वहण सन्धि तक भी चलती है जैसे– रामचरित में पताकानायक सुग्रीव का राज्यप्राप्ति रूप फल की प्राप्ति, रामचरित के मध्य में ही समाप्त हो जाती है परन्तु सुग्रीव का चरित्र निर्वहण सन्धि यानी सीता की प्राप्ति तक चलता है।

प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता।।68।।

यथा – कुलपत्यङ्के रावणजटायुसंवादः।

किंरी नायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम्।69।।

यथा – जटायोः मोक्षप्राप्ति।

प्रासङ्गिक इतिवृत्त में ही जो नायक एक देश में ही स्थित रहता है (अर्थात् कुछ देर तक ही चलने वाला चरित्र) प्रकरी नायक कहा जाता है, जैसे– कुलपत्यक में रावण का जटायु से संवाद। प्रकरी नायक का भी अपना कोई फल नहीं होता है अपितु वह प्रधान नायक की

फल प्राप्ति में ही सहायक होता है। भले ही उसे आनुषंगिक फल की प्राप्ति हो, जैसे – जटायु की मोक्षप्राप्ति।

12.2.4 जनान्तिक

नाट्य की दृष्टि से कथावस्तु के तीन भेद हैं– 1. **सर्वश्राव्य** (जो सभी पात्रों के द्वारा सुनने योग्य हो), 2. **नियतश्राव्य** (जो कुछ निश्चित पात्रों के द्वारा ही सुनने योग्य हो), तथा 3. **अश्राव्य** (जो किसी के भी सुनने योग्य न हो। उसे नाटक में स्वगत या आत्मगत कहा जाता है यानी मन में कहा जाता है)। इन तीनों कथावस्तुओं में नियतश्राव्य कथावस्तु के दो भेद होते हैं– 1. **जनान्तिक**, 2. **अपवारित**। नियतश्राव्य के प्रथम भेद जनान्तिक में किसी बात को किसी विशेष व्यक्ति आदि से छुपाने के लिए हाथ की एक विशेष मुद्रा को बनाया जाता है। इसमें केवल दो व्यक्तियों के बीच संवाद होता है और यह संवाद सभा में सभी के मध्य ही होता है। आचार्य विश्वनाथ ने जनान्तिक का लक्षण देते हुए कहा है –

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम्।।139।।

यः कश्चिदर्थो यस्माद् गोपनीयस्तस्यान्तरत ऊर्ध्वं सर्वाङ्गुलिनामितानामिकं त्रिपताकलक्षणं करं कृत्वान्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकम्।

तीन अंगुलियों को ऊपर की ओर उठाये हुए हाथ से दूसरे से छिपाकर कथा के बीच में जो बात किसी व्यक्ति विशेष से ही कही जाती है, उसे जनान्तिक कहते हैं। रंगमंच पर विद्यमान अन्य पात्र उस बात को न सुन सकें।

जो कोई अर्थ या बात जिससे छिपाना है उसके बीच में सभी अंगुलियों में से अनामिका अंगुलि को झुकाकर दूसरे के साथ जो बातचीत की जाती है वह जनान्तिक कहलाता है।

यथा –

प्रियंवदा – (जनान्तिकम्) अनसूये, को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन् प्रभाववानिव लक्ष्यते।

प्रियंवदा – (हाथ की ओट में) अनसूया, यह सुन्दर और गम्भीर आकृतिवाला कौन व्यक्ति है, जो मधुर और प्रिय वार्तालाप करता हुआ प्रभावशाली सा प्रतीत हो रहा है।

12.2.5 अपवारित

अपवारित भी नाटक की कथावस्तु के नियतश्राव्य का दूसरा भेद है। इसमें किसी बात को किसी एक व्यक्ति से छिपाकर एक ओर मुख करके दूसरे पात्र को जो रहस्य प्रकाशित (उद्घाटित) किया जाता है उसे अपवारित कहा जाता है जैसा कि आचार्य विश्वनाथ ने अपवारित का लक्षण बताते हुए कहा है –

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्तद्भवेदपवारितम्।

रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते।।138।।

परावृत्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितम्।शेषं स्पष्टम्।

अर्थात् दूसरी ओर मुड़कर दूसरे पात्र को रहस्य बताया जाये उसे अपवारित कहते हैं।

यथा – अभिज्ञानशाकुन्तलम् पंचम अंक में शकुन्तला अपवार्य ही कहती है–

शकुन्तला – (अपवार्य) आर्यस्य परिणय एव सन्देहः। कुतः इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा?

(एक ओर मुँह करके) महाराज को विवाह में ही सन्देह है अब मेरी महत्वाकांक्षा कहाँ?

12.2.6 सूत्रधार

सूत्रधार नाटक का संचालक होता है और नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु सूत्रधार के निर्देश से ही आगे बढ़ती है। यह रंगमंच का अधिष्ठाता होता है तथा नाटकीय पात्रों को आवश्यक निर्देश देता है। यह नाटक में नान्दी के पश्चात् प्रवेश करता है इसीलिए बहुधा नाटकों में यह देखने को मिलता है कि 'ततः प्रविशति नान्द्यन्ते सूत्रधारः' सूत्रधार का अर्थ होता है–'सूत्रं प्रयोगानुष्ठानं धारयति वा सूत्रनाट्योपकरणादिकं धारयति इति सूत्रधारः'।

नाट्यस्य यदनुष्ठानं तत्सूत्रं स्यात् सबीजकम्।

रंगदैवतपूजाकृत् सूत्रधार उदीरितः।।

अर्थात् नाटक के सूत्र या प्रयोग आदि उपकरणों को जो धारण करता है उसे सूत्रधार कहा जाता है तथा रंगमंच के अधिष्ठातृ देव की पूजा करता है। नाटक आदि में सूत्रधार के दो कार्य होते हैं– 1. अभिनय प्रयोग की सूचना देना, 2. नाटक आदि की स्थापना करना।

यथा –

सूत्रधारः – (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये, यदि नेपथ्यविधानमवसितम्, इतस्तावदागम्यताम्। .... आर्ये , कथयामि ते भूतार्थम्।

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।।

आचार्य विश्वनाथ ने सूत्रधार को नाटक में केवल पूर्वरंग तक ही उपस्थित बताया है और यह भी बताया है सूत्रधार के चले जाने पर उस सूत्रधार के समान वेशभूषा वाला व्यक्ति पुनः नाट्यशाला में प्रवेश करता है और आगे की प्रक्रिया को पूरा करता है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा है–

पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते।

प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः।।26।।

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।

सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा।।27।।

अर्थात् पूर्वरंग को विधिपूर्वक सम्पन्न करने के पश्चात् सूत्रधार चला जाता है। उसके बाद उसी के समान वेष वाला स्थापक प्रवेश करता है और वह नाटकादि उस वस्तु की स्थापना करता है जिस वस्तु का वर्णन किया जा रहा है यदि वह वस्तु दिव्य है तो वह देवता के रूप को धारण करके तथा यदि मृत्युलोक की वस्तु है तो वह मनुष्य के रूप को धारण करके और यदि मिश्र हो तो दोनों में से किसी एक रूप को धारण करके काव्य की वस्तु, बीज, मुख और पात्र में से किसी एक की सूचना देता हुआ रंगशाला में उपस्थित होता है।

काव्यार्थस्य स्थापनात्स्थापकः। तद्वदिति सूत्रधारसदृशगुणाकारः। इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक्प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयतीति व्यवहारः। स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा, मर्त्यं मर्त्यो भूत्वा, मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत्।

वस्तु इतिवृत्तम्, यथोदात्तराघवे–

रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो–

स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम्।

तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परामुन्नतिं–

प्रोत्सिक्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः।।

काव्यार्थ की स्थापना करने के कारण वह स्थापक कहलाता है। 'तद्वत्' का अभिप्राय सूत्रधार के समान गुण एवं आकार वाला है। आज पूर्वरंग के सम्यक् प्रयोग का अभाव होने से एक सूत्रधार ही सभी कार्य सम्पादित करता है। स्थापना का कार्य भी करता है। इस प्रकार व्यवहार है। वह स्थापक दिव्य वस्तु हो तो दिव्य रूप धारणकर, मर्त्यलोकीय वस्तु हो तो मर्त्य रूप होकर तथा मिश्र वस्तु हो तो दिव्य और मर्त्य में से किसी एक रूप का आश्रय लेकर सूचित करे। वस्तु से तात्पर्य इतिवृत्त है। इतिवृत्त की सूचना जैसे – उदात्तराघव में वर्णित है– श्रीरामचन्द्रजी पिता की आज्ञा को माला के समान शिर में स्वीकार कर वनवास के लिए चले गये। उनकी भक्ति में विभोर होकर भरत ने माता कैकेयी के साथ-साथ सम्पूर्ण राज्य का ही त्याग कर दिया। उनके अनुयायी सुग्रीव एवं विभीषण राम का साथ देने के कारण अत्यन्त उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त हो गये। घमण्ड से चूर रावण आदि सभी शत्रुओं का सर्वनाश हो गया।

बीजं यथा रत्नावल्याम् –

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।

आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः।।

अत्र हि समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थिताया रत्नावल्या अनुकूलदैवलालितो वत्सराजगृहप्रवेशो यौगन्धरायणव्यापारमारभ्य रत्नावलीप्राप्तौ बीजम्।

बीज की सूचना जैसै रत्नावली में वर्णित है–

अनुकूल भाग्य अभिलषित पदार्थ को दूसरे द्वीप से, समुद्र के बीच से और दिग्दिगन्त से भी ले आकर अचानक उपस्थित कर देता है। यहाँ पर समुद्र में यान के टूट जाने के कारण डूबने पर भी बचकर निकल जाने वाली रत्नावली का अनुकूल भाग्य द्वारा ललित वत्सराज के महल में प्रवेश यौगन्धरायण के व्यापार को प्रारम्भ कर रत्नावली की प्राप्ति में बीज है।

मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः। यथा –

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः।

उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः।।

यहाँ पर मुख का अभिप्राय श्लेष, समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि से प्रस्तुत वृत्तान्त का प्रतिपादक वचन विशेष है जैसे–

दृढ़ तमोगुण वाले भयानक एवं मेघ के समान श्याम वर्ण वाले रावण को मारकर सुग्रीव, विभीषण आदि बन्धुजनों के जीवन को सुरक्षित करने वाले और प्रकाश रूप निर्मल खड्ग को प्राप्त करने वाले विशुद्ध कान्ति से युक्त राम के समान गहन अन्धकार वाले मेघसमय को ध्वस्त कर बन्धुजीव आदि पुष्पों की वृद्धि करने वाला तथा प्रकाशस्वरूप एवं स्वच्छ चन्द्ररूप हास्य (विकास) को प्राप्त करने वाला तथा विशुद्ध कान्ति से युक्त यह शरद् ऋतु का समय प्राप्त हुआ।

पात्रं यथा शाकुन्तले –

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।

एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा।।

पात्र का संसूचन जैसे शाकुन्तलम् में –

आपके मनोहारी संगीत-माधुर्य से दूर तक ले जाने वाले अतिवेगशाली मृग से राजा दुष्यन्त के समान मैं बरबस खींचा गया हूँ। यहाँ पात्र संसूचित है।

12.2.7 विदूषक

नाटक या काव्य में विदूषक नाटक या काव्य को गति प्रदान करता है और उसे दर्शकों के मनोरंजनात्मक रूप में ढालने का प्रयास करता है। आचार्य विश्वनाथ ने विट, चेट और विदूषक को कुछ कमोबेश गुणों के आधार पर एक ही श्रेणी में रखा है। उन्होंने विदूषक का लक्षण करते हुए कहा है कि–

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।

हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः।।3.42।।

स्वकर्म हास्यादि।

अर्थात् किसी फूल अथवा वसन्तादि पर जिसका नाम हो और अपनी क्रिया, शरीर चेष्टा, वेष और भाषा आदि से हँसाने वाला हो, दूसरों को लड़ाने में प्रसन्न रहता हो और अपने मतलब में पूरा ध्यान रखता हो अर्थात् अपने खाने-पीने आदि की बातों को जो कभी न भूलता हो उसे 'विदूषक' कहा जाता है। यह कभी-कभी कथा के विकास में भी उपयोगी होता है। यह राजा का मित्र होता है।यह नायक का सहायक होता है।

उदाहरण – जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलम् का विदूषक माढव्य है।

विदूषकः – किं मोदकखादिकायाम्।

इसी प्रकार विदूषक राक्षसों से भयभीत होते हुए ऐसा दर्शाता है कि वह किसी से नहीं डरता।

विदूषकः – न खलु मां रक्षोभीरुकं गणयसि। (वस्तुतः मुझे राक्षसों से भयभीत मत समझ लेना)।

12.2.8 कञ्चुकी

कञ्चुकी नाटक का एक वृद्ध ब्राह्मण पात्र होता है। यह विद्वान्, कुशल और नीति-निपुण होता है। नाटक में कञ्चुकी संस्कृत भाषा बोलता है। मूलतः यह अन्तःपुर का सेवक होता है।

अन्तःपुरचरोवृद्धो विप्रोगुणगणान्वितः।

सर्वकार्यार्थ कुशलः कांचुकीत्यविधीयते।।

उदाहरण – अभिज्ञानशाकुन्तलम् का कंचुकी **वातायन** है।

12.2.9 पताकास्थानक

जिस नाटकादि में पात्र को तो कुछ अर्थ प्राप्तव्य होता है और किन्हीं कारणों से उसे वह प्राप्त न होकर अन्य की प्राप्ति हो जाये तो ऐसे स्थानों पर पताकास्थानक का विधान किया जाता है। पताकास्थानक के लक्षण को बताते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि–

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि।

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिंगोऽन्यः प्रयुज्यते।

आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्।।6.44–45।।

अर्थात् पताकास्थानक का प्रयोग बहुत सोच-समझकर करना चाहिए। पताकास्थानक उसे कहते हैं जहाँ प्रयोग करने वाले पात्र को अन्य अर्थ इच्छित हो, किन्तु सादृश्यता आदि के कारण 'आगन्तुक' अर्थात् प्रतीयमान अचिन्तितोपनत पदार्थ के द्वारा कोई दूसरा ही प्रयोग हो जाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने पताकास्थानक के चार भेद बताये हैं जिनके लक्षण और उदाहरण इस प्रकार से स्पष्ट हैं–

1. प्रथम पताकास्थानक का लक्षण –

सहसैवार्थसंपत्तिर्गुणवत्युपचारतः।

पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम्।।6.46।।

यथा रत्नावल्याम् – 'वासवदत्तेयम्' इति राजा यदा तत्कण्ठपाशं मोचयति तदा तदुक्त्या 'सागरिकेयम्' इति प्रत्यभिज्ञाय 'कथं ? प्रिया मे सागरिका' ?

अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते

त्वरितमयि! विमुञ्च त्वं लतापाशमेतम्।

चलितमपि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे!

क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि।।

अत्र फलरूपार्थसम्पत्तिः पूर्वापेक्षयोपचारातिशयाद् गुणवत्युत्कृष्टा।

जहाँ पर उपचार अर्थात् प्रीति के अनुकूल व्यापार होने से सहसा और शीघ्र ही अधिक

गुणयुक्त अर्थसम्पत्ति(उत्कृष्ट फलप्राप्ति) हो वहाँ प्रथम प्रकार का पताकास्थानक होता है।

उदाहरण– रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता का रूप धारण करके सागरिका जाती है किन्तु जब उसे यह ज्ञात हुआ कि रानी वासवदत्ता को मेरी यह सब बात ज्ञात हो गयी है तो वह पाशबन्ध के लिए तैयार हो जाती है किन्तु तत्काल ही राजा वहाँ पहुँचकर उसे पाशबन्ध से

मुक्त करता है और उसकी कण्ठध्वनि से उसे पहचान लेता है और आश्चर्य के साथ वह कहता है कि–'कथं प्रिया मे सागरिका' अर्थात् क्या यह मेरी प्रिय सागरिका है? यहाँ फलप्राप्ति रूप अर्थसम्पत्ति है, क्योंकि पहले तो राजा के द्वारा उसे वासवदत्ता समझकर उपचार किया जा रहा था किन्तु जब उसे यह ज्ञात हुआ कि यह सागरिका है तो राजा को उसके प्राप्तव्य अभीष्ट समागमरूप प्रयोगान्तर की प्राप्ति होती है।

यहाँ फलरूप अर्थसम्पत्ति (सागरिका-प्राप्ति) पहले (वासवदत्ता-प्राप्ति) की अपेक्षा प्रेम की अधिकता से अधिक उत्कृष्ट है। अतः यह प्रथम पताकास्थानक है।

2. द्वितीय पताकास्थानक का लक्षण –

वचः सातिशयं श्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम्।

पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्त्तितम्।।6.47।।

यथा वेण्याम् ––'रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः'। अत्र रक्तादीनां रुधिरशरीरार्थहेतुकश्लेषवशेन बीजार्थप्रतिपादनान्नेतृमङ्गलप्रतिपत्तौ सत्यां द्वितीयं पताकास्थानकम्।

अर्थात् जहाँ अनेक बन्धों में आश्रित अतिशय श्लिष्ट(श्लेष युक्त) वचन हों वह दूसरा पताकास्थानक होता है।

उदाहरण– वेणीसंहार नाटक में इस निम्नलिखित श्लोक के दो अर्थ निकलने से श्लिष्टपदयुक्त द्वितीय पताकास्थानक यहाँ सिद्ध होता है। जैसा कि कहा गया है–

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः।

1. जिन्होंने पृथ्वी को अनुरक्त और प्रसाधित कर लिया है और विग्रह जिनका क्षत हो गया है वे कौरव अपने भृत्यों के साथ स्वस्थ हों। 2. जिन्होंने अपने रुधिर से पृथ्वी को रञ्जित कर दिया है और जिनके शरीर क्षत-विक्षत हो गये हैं, ऐसे कौरव स्वस्थ हो जायें। यहाँ रक्तविग्रहादि श्लिष्ट पदों का रुधिर और शरीररूप अर्थ के हेतु श्लेष अलंकार से बीजभूत अर्थ (बढ़े हुए भीम के क्रोध से युधिष्ठिर का उत्साह तथा उससे कौरवों का नाश) के प्रतिपादन से नायक के मंगल का ज्ञान होने से यह दूसरा पताकास्थानक हुआ।

3. तृतीय पताकास्थानक का लक्षण –

अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत्।

श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते।।6.48।।

लीनमव्यक्तार्थम्, श्लिष्टेन सम्बन्धयोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेन प्रत्युत्तरेणोपेतम्, सविनयं विशेषनिश्चयप्राप्त्या सहितं सम्पाद्यते यत्ततृतीयं पताकास्थानम्।

जहाँ किसी दूसरे अर्थ का उपक्षेपक (सूचन करने वाला), लीन (अव्यक्तार्थक अस्पष्ट) और विनय (विशेष निश्चय) से युक्त वचन हो, जिसमें उत्तर भी श्लिष्टता से संयुक्त हो वह तीसरा पताकास्थानक होता है।

यहाँ लीन का अभिप्राय अस्पष्ट अर्थ से है। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतम् का अभिप्राय श्लिष्ट से अर्थात् सुसम्बद्ध और दूसरे अभिप्राय से युक्त प्रत्युत्तर से युक्त है। सविनय का आशय– जिसका विशेष निश्चय की प्राप्ति सहित सम्पादन किया जाता है वह तीसरा पताकास्थानक है।

उदाहरण – वेणीसंहार नाटक के द्वितीय अंक में कञ्चुकी के द्वारा यह कहा जाना कि –

कंचुकी – देव! भग्नं भग्नम् (महाराज! तोड़ दिया, तोड़ दिया)

राजा – केन? (किसने?)

कंचुकी – भीमेन (भीम ने)

राजा – कस्य? (किसका?)

कंचुकी – भवतः (आपका)

राजा – आः! किं प्रलपसि? (क्या प्रलाप कर रहे हो?)

कंचुकी – (सभयम्) देव! ननु ब्रवीमि भग्नं भीमेन भवतः। (डरकर) महाराज! मैं ठीक कह रहा हूँ। भीम ने आपका तोड़ दिया।

राजा – धिग् वृद्धापसद! कोऽयमद्य ते व्यामोहः? (धिक् अधम वृद्ध! यह तुम्हारा कैसा मोह है?)

कंचुकी – देव! न व्यामोहः। सत्यमेव–

भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम्।

पतितं किङ्किणीकाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ।।

अत्र दुर्योधनोरुभंगरूपप्रस्तुतसंक्रान्तमर्थोपक्षेपणम्।

भीम अर्थात् भयंकर वायु ने भग्न आपके रथ का ध्वज किंकिणीसमूह के शब्द से रोते हुए के समान जमीन पर गिर पड़ा। यहाँ पर दुर्योधन की उरुभंग रूप प्रस्तुत विषय में दूसरे अर्थ का सूचक हुआ है। अतः यहाँ तृतीय श्लिष्टपदयुक्त पताकास्थानक है।

4. चतुर्थ पताकास्थानक का लक्षण –

द्वयर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः।

प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम्।।6.49।।

जहाँ सुन्दर श्लेषयुक्त द्व्यार्थक वचनों का विन्यास हो, जिससे प्रधान अर्थ की सूचना होती है वह चतुर्थ प्रकार का पताकास्थानक होता है।

उदाहरण – रत्नावली नाटिका में निम्न श्लोक में लता और कामिनी के माध्यम से द्व्यार्थक श्लिष्ट वचनों को निबद्ध किया गया है–

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा–

दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।

अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं

पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्।।

मैं आज यहाँ बहुत अधिक संख्या में निकली हुई कलियों से युक्त, पक्ष में– प्रेम मिलन की अत्यन्त उत्कण्ठा से युक्त, फूल के विकास से पीली-पीली कान्ति वाली, पक्ष में– प्रेम विरह से पीले वर्ण वाली, फूल का विकास करने वाली, पक्ष में– अलसायी हुई, निरन्तर पवन के झोकों से कम्पित होने वाली, पक्षमें– अनवरत विरहवेदना के उद्गम से कामवेदना को प्राप्त करने वाली, मदन वृक्ष में लिपटी हुई, पक्ष में– कामवासना से युक्त नारी के समान इस उद्यानलता को देखता हुआ देवी (वासवदत्ता) के मुख को निश्चय ही क्रोध से लाल वर्ण वाला करूँगा। इसमें सागरिका की प्राप्ति रूप भावी अर्थ की सूचना दी गई है। अतः यह चौथा पताकास्थानक है।

इस तरह ये चारों पताकास्थानक की योजना कहीं नायक के मंगलार्थक और कहीं अमंगलार्थक होकर सभी सन्धियों में प्रयुक्त होते हैं।

12.2.10 आकाशभाषित

आकाशभाषित नाटक की अश्राव्य, सर्वश्राव्य आदि उक्तियों के भेदों में से एक है। आचार्य विश्वनाथ ने इस आकाशभाषित का लक्षण करते हुए कहा है कि नाटक में जहाँ किसी दूसरे पात्र के बिना ही, बिना कही बात को ही सुनने का अभिनय करके यह कहा जाये कि 'किम् ब्रवीषीत्यादि' अर्थात् क्या कहते हो? वहाँ आकाशभाषित होता है। इसके लिए 'आकाशे' (आकाश में) भी प्रयुक्त होता है। जैसा कि आचार्य विश्वनाथ ने लक्षण दिया है–

किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते।

श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम्।।6.140।।

उदाहरण – (आकाशे) राजन्,

सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते

वेदिं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।

छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः

सन्ध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्।। अभिज्ञानशाकुन्तलम् 3.24

यह आकाशवाणी है जिसे सुनकर **राजा अयमहमामच्छामि। (इति निष्क्रान्तः।)**

12.2.11 भरतवाक्य

नायक, सूत्रधार अथवा नाटकीय पात्रों की ओर से जनता के लिए जो अन्तिम आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक, कल्याणात्मक श्लोक होता है उसे भरतवाक्य कहा जाता है। भरत का अर्थ नट या अभिनेता है। **भरतानां वाक्यं भरतवाक्यम्**। अथवा भरतवाक्य यह नाम नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि की स्मृति के लिए भी रखा गया है। इस दृष्टि से भरतमुनि द्वारा आदिष्ट आशीर्वादात्मक वाक्य यह अर्थ भी प्राप्त होगा।

आचार्य विश्वनाथ ने भरतवाक्य का लक्षण करते हुए कहा है–

वरदानसम्प्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते।

नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते।।6.114।।

अर्थात् वरदान की प्राप्ति का नाम काव्यसंहार है। इसमें प्रशस्ति, राजा और देश आदि की शान्ति भी सम्मिलित है।

उदाहरण – किसी भी नाटक के अन्त में बहुधा यही देखने को मिलता है कि **'किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि'** अर्थात् यदि भगवन् आप हमारा प्रिय ही करना चाहते हैं तो आप यह शुभ कार्य हमारे लिए करें और हमारा कल्याण करें। जैसा कि प्रभावती नाटक में कहा गया है–

राजानः सुतनिर्विशेषमधुना पश्यन्तु नित्यं प्रजा

जीयासुः सदसद्विवेकपटवः सन्तो गुणग्राहिणः।

सस्यस्वर्णमृद्धयः समधिकाः सन्तु क्षमामण्डले

भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे।।

राजा पुत्रों के समान प्रजा का पालन करें, गुणों को ग्रहण करने वाले गुणग्राही पुरुष उन्नत हों, स्वामी के लिए धन-धान्य की वृद्धि हो और सब की भक्ति भगवान् नारायण में बढ़े।

इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् का भरतवाक्य प्रसिद्ध है।

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः।

सरस्वती श्रुतमहतां महीयताम्।।

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः।

पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।।

राजा प्रजा के हित के लिए प्रयत्नशील हों। ज्ञान गरिष्ठ कवियों की वाणी का पूर्ण सत्कार हो। सर्वशक्तिमान् स्वयंभू शिव मेरे पुनर्जन्म को निवृत्त कर दें।

12.3सारांश

प्रिय विद्यार्थियों! 'संस्कृत साहित्यशास्त्र एवं साहित्य' के इस पाठ्यक्रम में आप 'साहित्यदर्पण' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का अध्ययन कर रहे हैं। इस इकाई में आपने नाटक से सम्बन्धित अंगों जैसे नान्दी, प्रस्तावना, इतिवृत्त, जनान्तिक, अपवारित आदि का अध्ययन किया। अध्ययन के क्रम में आपने जाना कि आशीर्वादात्मक वचनों से युक्त देवता, ब्राह्मण, राजा आदि की स्तुति नान्दी कहलाती है। आपने प्रस्तावना को भी उसके पञ्चविध भेदों के साथ विस्तार के साथ समझा। इतिवृत्त के आधिकारिक एवं प्रासंगिक द्विविध भेदों का अध्ययन किया। अध्ययन के इस क्रम में आपने जनान्तिक, अपवारित, सूत्रधार, विदूषक आदि के लक्षणों एवं उदाहरणों का भी अध्ययन किया।

12.4 कुछउपयोगी पुस्तकें

- साहित्यदर्पणम्,व्याख्याकार आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2010
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकारः पं. हरेकान्तमिश्रः, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली,2017
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकार श्रीशालिग्रामशास्त्रि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,1986।
- साहित्यदर्पण , व्याख्याकार मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः, अक्षयवट प्रकाशन प्रयागराज।
- साहित्यदर्पणः, (मंजू–संस्कृतव्याख्या– हिन्द्यनुवादोपेतः) व्याख्याकार लोकमणिदाहालादि– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, स0 2054
- साहित्यदर्पण–विश्वनाथ, (व्याख्याकार)सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1988
- नाट्यशास्त्रम्, सम्पादक बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी,1972
- नाट्यशास्त्र,व्याख्याकार ब्रजमोहन चतुर्वेदी, विद्यानिधि प्रकाशन दिल्ली।
- नाट्यशास्त्रम्, व्याख्याकार डॉ0 पारसनाथ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2004
- दशरूपक,व्याख्याकार श्रीनिवास शास्त्री, साहित्यभण्डार मेरठ।

12.5 अभ्यास प्रश्न

1 नान्दी एवं उसके भेदों को स्पष्ट कीजिए।
2 भरतवाक्य की उदाहरण सहित विवेचना कीजिए।
3 आकाशभाषित पर टिप्पणी लिखिए।
4 इतिवृत्त का लक्षण देते हुए उसके भेदों का वर्णन कीजिए।
5 विदूषक की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

इकाई 13 अर्थोपक्षेपक, अर्थप्रकृतियाँ एवं कार्यावस्थायें

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 अर्थोपक्षेपक

- 13.2.1 विष्कम्भक
- 13.2.2 प्रवेशक
- 13.2.3 चूलिका
- 13.2.4 अङ्कावतार
- 13.2.5 अङ्कमुख (अङ्कास्य)

13.3 अर्थप्रकृतियाँ

- 13.3.1 बीज
- 13.3.2 बिन्दु
- 13.3.3 पताका
- 13.3.4 प्रकरी
- 13.3.5 कार्य

13.4 कार्यावस्थायें

- 13.4.1 आरम्भ
- 13.4.2 यत्न (प्रयत्न)
- 13.4.3 प्राप्त्याशा
- 13.4.4 नियताप्ति
- 13.4.5 फलागम (फलयोग)

13.5 सारांश

13.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.7 अभ्यास प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- अर्थोपक्षेपकों के स्वरूप से परिचित होंगे।
- नाटक में अर्थप्रकृतियों की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- कार्यावस्थाओं के स्वरूप को स्पष्ट रूप से जान सकेंगे।
- नये पदों के प्रकृति-प्रत्ययों को समझ पायेंगे।

13.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप रूपक के भेदों तथा नाटक के लक्षण की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। नाटक के लक्षण में आपने पढ़ा कि **'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्'** अर्थात् नाटक ख्यातवृत्त वाला होना चाहिए तथा पाँच सन्धियों से समन्वित होना चाहिए। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण ये पाँच नाट्यसन्धियाँ कहलाती हैं। ये पाँच सन्धियाँ क्रमशः पाँच अर्थप्रकृतियों एवं पाँच अवस्थाओं के योग से बनती हैं। नाटक के मंचन में अर्थोपक्षेपकों का भी विशेष स्थान है। अर्थोपक्षेपकों के द्वारा ही हम दर्शकों को उन घटनाओं की सूचना देते हैं जिनका अभिनय मंच पर नहीं किया जा सकता है। अर्थप्रकृतियाँ तथा कार्यावस्थायें भी नाटक के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। इस प्रकार 'संस्कृत साहित्यशास्त्र एवं साहित्य' पाठ्यक्रम की इस इकाई में आप अर्थोपक्षेपकों, अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं के विषय में अध्ययन करेंगे।

13.2 अर्थोपक्षेपक

उपक्षिपन्ति = उपस्थापयन्ति अर्थान् इति उपक्षेपकाः, अर्थात् जो अर्थों को उपक्षिप्त (बीच-बीच में सूचित/उपस्थापित) करते हैं उन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं। अर्थोपक्षेपकों का क्या प्रयोजन है? इसके लिए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कहते हैं कि –

अङ्केष्वदर्शनीया या वक्तव्यैव च सम्मता।

या च स्याद्वर्षपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा।।51।।

अन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपक्षेपकैर्बुधैः।

अङ्केषु अदर्शनीया कथा युद्धादिकथा।

वर्षादूर्ध्वं तु यद्वस्तु तत्स्याद्वर्षादधोभवम्।।52।।

उक्तं हि मुनिना–

'अङ्कच्छेदे कार्यं मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि।

तत्सर्वं कर्तव्यं वषादूर्ध्वं न तु कदाचित्।।'

एवं च चतुर्दशवर्षव्यापिन्यपि रामवनवासे ये ये विराधवधादयः कथांशास्ते ते वर्षवर्षावयवदिनयुग्मादीनामेकतमतेन सूचनीया न विरुद्धाः।

दिनावसाने कार्यं यद् दिने नैवोपपद्यते।

अर्थोपक्षेपकैर्वाच्यमङ्कच्छेदं विधाय तत्।।53।।

अर्थात् जो कथा (युद्ध आदि विषयक) अंक में दिखाने योग्य तो नहीं, किन्तु बतानी आवश्यक है, अथवा दो दिन से लेकर जो वर्षपर्यन्त होने वाली है एवं इसके अतिरिक्त कोई अन्य कथा (चाहे वह एक दिन की ही क्यों न हो) जो अतिविस्तृत हो, उसको भी अर्थोपक्षेपकों के द्वारा ही सूचित करना चाहिए।

नाट्याचार्य का यही आदेश है – 'वह वृत्त जो एक मास में घटित हुआ हो अथवा एक वर्ष में सम्पन्न हुआ हो, अङ्कच्छेद अर्थात् विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपक-प्रकारों में से किसी एक के द्वारा वर्णित किया जा सकता है। किन्तु एक वर्ष से अधिक समय में घटी घटना का उपनिबन्धन कदापि नहीं होना चाहिए।'

और वस्तुतः इसीलिए राम विषयक रूपक प्रबन्धों में, राम के 14 साल के वनवास काल में घटित, विराध-वध आदि-आदि कथांशों को, एक वर्ष के भीतर अथवा एक दिन या दो दिन में ही घटित रूप से अर्थोपक्षेपकों द्वारा उपनिबद्ध किया गया है जिसमें नाट्यशास्त्र की मर्यादा की भी पूर्ण रक्षा हुई है।

जो कार्य दिन के अवसान में सम्पाद्य (सम्पन्न करने योग्य) हो, दिन में न हो सकता हो तो उसे भी अंकच्छेद करके सूचित करना चाहिए।

अथ के अर्थोपक्षेपका इत्याह –

अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ।

चूलिकाङ्कावतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि।।54।।

अर्थोपक्षेपक पाँच होते हैं – 1. विष्कम्भक, 2. प्रवेशक, 3. चूलिका, 4. अंकावतार, 5. अंकमुख।

इनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है –

13.2.1 विष्कम्भक

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।

संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः।।55।।

मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः।

शुद्धः स्यात्स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः।।56।।

तत्र शुद्धो यथा– मालतीमाधवे श्मशाने कपालकुण्डला। सङ्कीर्णो यथा– रामाभिनन्दे क्षपणककापालिकौ।

भूत और भविष्य कथाओं का सूचक, कथा का संक्षेप करने वाला अंश विष्कम्भक कहलाता है। यह अंक के आदि में रहता है। जब एक ही मध्यम पात्र अथवा दो मध्यम पात्र प्रयोग करते हैं तब इसे शुद्ध विष्कम्भक कहते हैं और यदि नीच तथा मध्यम पात्रों द्वारा प्रयोग किया जाये तो इसे मिश्र विष्कम्भक कहते हैं।

शुद्ध विष्कम्भक का उदाहरण – मालतीमाधव के पञ्चम अंक में श्मशान में स्थित कपालकुण्डला के द्वारा।

मिश्र (संकीर्ण) विष्कम्भक का उदाहरण – रामाभिनन्दन में क्षपणक और कापालिक के द्वारा।

13.2.2 प्रवेशक

अथ प्रवेशकः –

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।

अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा।।57।।

अङ्कद्वयस्यान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः। यथा– वेण्यामश्वत्थामाङ्के राक्षसमिथुनम्।

प्रवेशक भी विष्कम्भक के सदृश होता है, किन्तु इसका प्रयोग नीच पात्रों के द्वारा करवाया जाता है और इसमें उक्तियाँ उदात्त (उत्कृष्ट रमणीय) नहीं होती।

इसका प्रयोग दूसरे अंक के आगे किया जाता है, पहले अंक में नहीं। जैसे– वेणीसंहार के चतुर्थ अंक में राक्षसों की जोड़ी द्वारा।

13.2.3 चूलिका

अथ चूलिका

अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका।

यथा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ– '(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः, प्रवर्तन्तां रङ्गमङ्गलानि' इत्यादि। 'रामेण परशुरामो जितः' इति नेपथ्ये पात्रैः सूचितम्।

जवनिका (पर्दे) के भीतर स्थित पात्रों के द्वारा की हुई वस्तु (अर्थ) की सूचना को चूलिका कहते हैं, जैसे– महावीरचरितम् नाटक के चतुर्थ अंक में,

(नेपथ्य से) अरे वैमानिक गण रंगमंगल कार्य प्रारम्भ किए जायें। आदि।

यहाँ नेपथ्यवर्ती पात्र यह सूचना दे रहे हैं कि राम ने परशुराम को जीत लिया है।

13.2.4 अङ्कावतार

अथाङ्कावतारः –

अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः।।58।।

यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः।

यथा– अभिज्ञाने पञ्चमाङ्के पात्रैः सूचितः षष्ठाङ्कस्तदङ्कस्याङ्गविशेष इवावतीर्णः।

पूर्व अंक के अन्त में उसी के पात्रों द्वारा सूचित किया गया जो अगला अंक अवतीर्ण होता है उसे अंकावतार कहते हैं, जैसे– शाकुन्तलम् के पंचम अंक के अन्त में उसके पात्रों द्वारा सूचित किया हुआ षष्ठ अंक पूर्व से अविभक्त (उसका अंक जैसा) ही अवतीर्ण हुआ है।

13.2.5 अङ्कमुख (अङ्कास्य)

अथाङ्कमुखम्

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाऽखिला।।59।।

तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत्।

यथा— मालतीमाधवे प्रथमाङ्कादौ कामन्दक्यवलोकिते भूरिवसुप्रभृतीनां भाविभूमिकानां परिक्षिप्तकथाप्रबन्धस्य च प्रसङ्गात्संनिवेशं सूचितवत्यौ।

जहाँ एक ही अंक में सब अंकों की अविकल सूचना की जाये और जो बीजभूत अर्थ का सूचक हो असे अंकमुख कहते हैं।

जैसे— मालतीमाधव के प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही कामन्दकी और अवलोकिता ने अगली सब बातों की सूचना दे दी है।

अंकमुख का दूसरा लक्षण —

अङ्कान्तपात्रैर्वाङ्कस्य छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्।।60।।

अङ्कान्तपात्रैरङ्कान्ते प्रविष्टैः पात्रैः। यथा वीरचरिते द्वितीयाऽङ्कान्ते —

'(प्रविश्य)

सुमन्त्रः — भगवन्तौ वशिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वतः।

इतरे — क्व भगवन्तौ?

सुमन्त्रः — महाराजदशरथस्यान्तिके।

इतरे — तत्तत्रैव गच्छामः' इत्यङ्कपरिसमाप्तौ। '(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वशिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः) इत्यत्र पूर्वाऽङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनकथाविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यम्' इति।

एतच्च धनिकमतानुसारेणयेक्तम्। अन्ये तु— ' अङ्कावतरणेनैवेदं गतार्थम्' इत्याहुः।

अंक के अन्त में प्रविष्ट किसी पात्र के द्वारा विच्छिन्न अंक की अगली कथा का सूचन करने से अंकास्य अथवा अंकमुख होता है।

जैसे— महावीरचरित में द्वितीय अंक के अन्त में सुमन्त्र का प्रवेश—

यहाँ पूर्व अंक के अन्त में प्रविष्ट सुमन्त्र रूप पात्र ने अगले अंक की सूचना की है ।

सुमन्त्र — भगवान वशिष्ठ और विश्वामित्र भार्गव परशुराम आप सबको बुला रहे हैं।

और लोग — कहाँ हैं भगवान वशिष्ठ और विश्वामित्र?

सुमन्त्र — महाराज दशरथ के पास विराजमान हैं।

और लोग – तब वहीं चला जाए।

यहाँ द्वितीय अंक के अन्त में वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम का प्रवेश होता है। इसे अंकास्य इसलिए माना गया है क्योंकि पूर्व अंक में प्रविष्ट पात्र सुमन्त्र द्वारा जनक और शतानन्द सम्बन्धी कथावस्तु का विच्छेद हो जाता है और अग्रिम अंक की कथावस्तु के मुख अथवा आरम्भ की सूचना दे दी जाती है।

अंकास्य (अंकमुख) का यह लक्षण आचार्य धनिक के मतानुसार बताया गया है। अन्य लोगों के मत में तो अंकास्य को अंकावतार के ही अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है।

13.3 अर्थप्रकृतियाँ

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।।64।।

अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि।

शब्दार्थ – बीजम्, बिन्दुः, पताका च, प्रकरी, कार्यम् एव च = बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। इति पञ्च अर्थप्रकृतयः = ये पाँच अर्थ की प्रकृतियाँ। ज्ञात्वा = जानकर, समझकर। यथाविधि = विधिपूर्वक। योज्याः = प्रयोग करनी चाहिए।

बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ये पाँच अर्थ की प्रकृतियाँ हैं। अर्थ = प्रयोजन। प्रकृति = साधनोपाय। अर्थप्रकृति अर्थात् प्रयोजन की सिद्धि में उपायरूप हेतु अथवा साधन। यहाँ प्रकृति शब्द हेतु अथवा साधन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् नाट्यरूपी प्रयोजन की सिद्धि में जो साधन अथवा हेतु बनती हैं उसे अर्थप्रकृति कहते हैं। इन अर्थप्रकृतियों को समझकर विधिपूर्वक (यथाविधि) प्रयोग करना चाहिए।

13.3.1 बीज

अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः। तत्र बीजम् –

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।।65।।

फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते।

यथा– रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुर्दैवानुकूल्यलालितो यौगन्धरायणव्यापारः। यथा वा – 'वेण्यां द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमसेनक्रोधोपचित्' युधिष्ठिरोत्साहः।

शब्दार्थ – यद् अल्पमात्रम् समुद्दिष्टम् = जिसका पहले अल्पमात्र कथन (वर्णन) किया जाये। बहुधा विसर्पति = उसका विसर्पण (विस्तार) अनेक प्रकार से होता है। तत् बीजम् अभिधीयते = उसे बीज नामक अर्थप्रकृति कहते हैं। फलस्य प्रथमः हेतुः = (यह अर्थप्रकृति) फल की सिद्धि का प्रथम हेतु होती है।

जिसका पहले अल्पमात्र कथन (वर्णन) किया जाये, किन्तु उसका विसर्पण (विस्तार) अनेक प्रकार से हो उसे बीज नामक अर्थप्रकृति कहते हैं। यह अर्थप्रकृति फल की सिद्धि का प्रथम हेतु होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई बीज अपनी अंकुरित अवस्था में छोटे रूप में दिखाई देता है और बाद में बहुत प्रकार से फैलता चला जाता है तथा फल का आदि कारण भी वही होता है, ठीक वैसे ही बीज नामक अर्थप्रकृति भी होती है। पहले उसका स्वल्पमात्र वर्णन होता है तथा बाद में अनेक तरह से विस्तार होता है। रूपक (नाटक आदि) में नायक का मुख्य उद्देश्य अथवा नायक के लिए उचित उपयुक्त उद्देश्य ही फल कहलाता है, और उस फल की प्राप्ति के लिए हेतुरूप, उपायरूप अथवा साधनरूप जो पहला कार्य-कलाप किया जाता है उसे बीज नामक अर्थप्रकृति कहते हैं।

जैसे रत्नावली नाटिका में वत्सराज उदयन को रत्नावली की प्राप्ति फल है तथा भाग्य की अनुकूलता से युक्त मन्त्री यौगन्धरायण का किया गया कार्य कलाप (प्रयास आदि) उस फल का प्रथम हेतु है, पहला कारण है। यदि यौगन्धरायण का योजनाबद्ध प्रयास नहीं होता तो वत्सराज उदयन को रत्नावली की प्राप्ति भी नहीं होती।

इसका अन्य उदाहरण जैसे– वेणीसंहार नाटक में द्रौपदी के केश-संयमन का (केश बाँधने का) हेतुभूत भीमसेन के क्रोध से युक्त, युधिष्ठिर का युद्ध के लिए उत्साह।

13.3.2 बिन्दु

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।।66।।

यथा रत्नावल्यामनङ्गपूजापरिसमाप्तौ काव्यार्थविच्छेदे सति 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते' इति सागरिका श्रुत्वा '(सहर्षम्) कथमेष स उदयननरेन्द्रः' इत्यादिरवान्तरार्थहेतुः।

शब्दार्थ – अवान्तरार्थविच्छेद = अवान्तर कथा के विच्छिन्न हो जाने पर (भी)। उच्छेदकारणम् = अविच्छेद का कारण। बिन्दुः = बिन्दु कहलाता है अर्थात् उसे बिन्दु नामक अर्थप्रकृति कहते हैं।

अवान्तर कथा के विच्छिन्न हो जाने पर भी प्रधान कथा के अविच्छेद का जो कारण है उसे बिन्दु नामक अर्थप्रकृति कहते हैं। अवान्तर कथा अर्थात् प्रासंगिक कथा। प्रधान (आधिकारिक) कथा के बीच में प्रसंगवश आने वाली कथा को प्रासंगिक अथवा अवान्तर कथा कहते हैं। प्रासंगिक कथा के समाप्त हो जाने पर भी जिसके कारण प्रधान कथा अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है, उस अर्थप्रकृति को बिन्दु कहते हैं।

जैसे रत्नावली नाटिका में अनंगपूजा (कामदेव-पूजन) की समाप्ति होने पर कथा पूर्ण हो चुकी थी, किन्तु 'उदयनस्येन्दुरिवोद्वीक्षते' इत्यादि पद्य को सुनकर 'अरे, यही वह राजा उदयन है'– यह सागरिका का सहर्ष कथन कथा के अविच्छेद का हेतु है।

13.3.3 पताका

व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।

यथा– रामचरिते सुग्रीवादेः, वेण्याः भीमादेः, शाकुन्तले विदूषकस्य चरितम्।

शब्दार्थ – व्यापि = (दूर तक) व्याप्त। प्रासङ्गिकम् वृत्तम् = प्रासंगिक इतिवृत्त कथा। पताका इति अभिधीयते = पताका कहलाती है अर्थात् उसे पताका नामक अर्थप्रकृति कहते हैं।

जो प्रासंगिक कथा दूर तक व्याप्त हो उसे पताका नामक अर्थप्रकृति कहते हैं। दूर तक व्याप्त होने वाली प्रासंगिक कथा का तात्पर्य है दूर तक चलने वाली अथवा लम्बी चलने वाली प्रासंगिक कथा। जैसे रामायण में सुग्रीव आदि की कथा, वेणीसंहार में भीम आदि की कथा और अभिज्ञानशाकुन्तल में विदूषक का चरित।

पताका-नायक का कोई अलग से (भिन्न) फल नहीं होता, अपितु प्रधान नायक के अभीष्ट फल को सिद्ध करने के लिए ही उसकी समस्त चेष्टायें होती हैं। गर्भ या विमर्श सन्धि में उसका निर्वाह कर दिया जाता है, जैसे सुग्रीव की राज्यप्राप्ति।

भरतमुनि ने इस सन्दर्भ में कहा है कि "आ गर्भाद्वा विमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते" अर्थात् गर्भसन्धि में या विमर्शसन्धि में पताका समाप्त हो जाती है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पताका से अभिप्राय है – पताकानायक का फल क्योंकि कहीं-कहीं निर्वहण सन्धि तक भी पताका कथा चलती है।

13.3.4 प्रकरी

प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता।।68।।

यथा– कुलपत्यङ्के रावणजटायुसंवादः।

प्रकरीनायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम्।

यथा – जटायोः मोक्षप्राप्तिः।

शब्दार्थ – प्रासङ्गिकम् = प्रसंगवश उपस्थित। प्रदेशस्थम् चरितम् = एकदेशस्थित (अल्पदेश-व्यापी) चरित। प्रकरी मता = प्रकरी कहा जाता है।

प्रसंगवश उपस्थित तथा एकदेशस्थित (अल्पदेश-व्यापी) चरित को प्रकरी नामक अर्थप्रकृति कहते हैं, जैसे कुलपत्यङ्क रूपक में रावण और जटायु का संवाद।

शब्दार्थ – प्रकरीनायकस्य = प्रकरी-नायक का। स्वकीयम् = अपना। फलान्तरम् = कोई अलग फल। न स्यात् = नहीं होता है।

प्रकरी-नायक का कोई अपना अलग फल नहीं होता, जैसे जटायु की मोक्षप्राप्ति।

13.3.5 कार्य

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।।69।।

समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति संमतम्।

यथा– रामचरिते रावणवधः।

शब्दार्थ – यत् तु अपेक्षितम् साध्यम् = जो (अपेक्षित) प्रधान साध्य है। यन्निबन्धनः आरम्भः = जिसके लिए सब उपायों का आरम्भ किया जाता है। यत्सिद्ध्यै तु = जिसकी सिद्धि के लिए। समापनम् = (समस्त) समापन किया जाता है। तत् कार्यम् इति = उसे कार्य नामक अर्थप्रकृति। सम्मतम् = माना जाता है, कहा जाता है।

जो प्रधान साध्य है, जिसके लिए सब उपायों का आरम्भ किया जाता है, जिसकी सिद्धि के लिए समस्त समापन किया जाता है, उसे कार्य नामक अर्थप्रकृति कहते हैं, जैसे रामचरित में रावणवध।

13.4 कार्यावस्थायें

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।।70।।

आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः।

शब्दार्थ – फलार्थिभिः = फल के इच्छुक पुरुषों के द्वारा। प्रारब्धस्य = आरम्भ किये गये। कार्यस्य = कार्य की। पञ्च अवस्थाः = पाँच अवस्थायें। आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः = आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।

फल के इच्छुक पुरुषों के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं– आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। इनके स्वरूप का विवेचन इस प्रकार है –

13.4.1 आरम्भ

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये।।71।।

यथा – रत्नावल्यां रत्नावल्यन्तःपुरनिवेशार्थे यौगन्धरायणस्यौत्सुक्यम्। एवं नायकनायिकादीनामप्यौत्सुक्यमारकेषु बोद्धव्यम्।

शब्दार्थ – मुख्य-फल-सिद्धये = मुख्य फल की सिद्धि के लिए, यद् = जो, औत्सुक्यम् = औत्सुक्य, उत्सुकता। (तद् = वह) आरम्भः = आरम्भ। भवेत् = होता है अर्थात् उसे आरम्भ नामक कार्यावस्था कहते हैं।

मुख्य फल की सिद्धि के लिए जो औत्सुक्य है उसे आरम्भ नामक अवस्था (कार्यावस्था) कहते हैं।

जैसे रत्नावली नाटिका में राजकुमारी रत्नावली को अन्तःपुर (रनिवास) में लाने के लिए मन्त्री यौगन्धरायण की उत्कण्ठा। इसी प्रकार नायक नायिका आदि का भी औत्सुक्य (उत्सुकता/उत्कण्ठा) समझना चाहिए।

13.4.2 यत्न (प्रयत्न)

प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।

यथा रत्नावल्यां – तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा तथा आलिख्य यथासमीहितं करिष्यामि। इत्यादिना प्रतिपादितो रत्नावल्याश्चित्रलेखनादिर्वत्सराजसङ्गमोपायः। यथा च– रामचरिते समुद्रबन्धनादिः।

शब्दार्थ – फलावाप्तौ = फलप्राप्ति के विषय में अर्थात् फलप्राप्ति के लिए। अतित्वरान्वितः = अत्यन्त त्वरा (शीघ्रता) से युक्त। व्यापारः तु = व्यापार (क्रियाकलाप)। प्रयत्नः = प्रयत्न नामक कार्यावस्था है।

फलप्राप्ति के लिए अत्यन्त त्वरायुक्त व्यापार (क्रियाकलाप) को यत्न अथवा प्रयत्न नामक कार्यावस्था कहते हैं।

जैसे रत्नावली में रत्नावली का चित्रलेखन। यह वत्सराज उदयन से रत्नावली के समागम का त्वरान्वित (शीघ्रता से युक्त) क्रियाकलाप प्रयत्न नामक कार्यावस्था है।

अथवा रामायण (रामचरित) में समुद्रबन्धन आदि।

13.4.3 प्राप्त्याशा

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।।72।।

यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्तनाभिसरणादेः सङ्गमोपायाद्वासवदत्तालक्षणापायशङ्कया चानिर्धारितैकान्तसङ्गमफलप्राप्तिः प्राप्त्याशा।

एवमन्यत्र।

शब्दार्थ – उपायापायशङ्काभ्याम् = उपाय तथा अपाय की आशंकाओं से, प्राप्तिसम्भवः = प्राप्ति की सम्भावना। प्राप्त्याशा = प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था होती है।

जहाँ प्राप्ति की आशा उपाय तथा अपाय की आशंकाओं से घिरी हो, किन्तु प्राप्ति की सम्भावना हो, उस कार्यावस्था को प्राप्त्याशा कहते हैं।

जैसे रत्नावली नाटिका के तृतीय अंक में वेष-परिवर्तन और अभिसरण आदि तो संगम के उपाय हैं, किन्तु वासवदत्तारूपी अपाय (प्रतिबन्धक) की आशंका भी बनी है, अतः समागमरूप फल की प्राप्ति अनिश्चित होने से प्राप्त्याशा है।

13.4.4 नियताप्ति

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता।

अपायाभावान्निर्धारितैकान्तफलप्राप्तिः। यथा रत्नावल्याम् – 'राजा– देवीप्रसादनं त्यक्त्वा नान्यमन्त्रोपायं पश्यामि।' इति देपीलक्षणापायस्य प्रसादेन निवारणान्नियतफलप्राप्तिः सूचित।

शब्दार्थ – अपायाभावतः = अपाय के दूर हो जाने से। निश्चिता प्राप्तिः तु = फल की प्राप्ति सुनिश्चित हो तो। नियताप्तिः = नियताप्ति नामक कार्यावस्था होती है।

अपाय के दूर हो जाने से जो फल की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है, उसे नियताप्ति नामक अवस्था कहते हैं।

जैसे रत्नावली नाटिका में वत्सराज उदयन का देवी वासवदत्ता के प्रसादन के लिए (प्रसन्न करने के लिए) तत्पर होना क्योंकि वासवदत्ता का रोष अपाय (बाधा/रुकावट) है। वासवदत्ता का रोष दूर होने पर ही उदयन और रत्नावली का समागम सुनिश्चित हो सकता था। इसलिए यहाँ उदयन का देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिए तत्पर होने से उक्त समागमरूप फल की निश्चित प्राप्ति सूचित होती है। यह अवस्था नियताप्ति है।

13.4.5 फलागम (फलयोग)

सावस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः।।73।।

यथा– रत्नावल्यां रत्नावलीलाभश्चक्रवर्तित्वलक्षणफलान्तरलाभसहितः।

एवमन्यत्र।

शब्दार्थ – यः = जो। समग्रफलोदयः = सम्पूर्ण फल की प्राप्ति। सा अवस्था = वह अवस्था। फलयोगः स्यात् = फलयोग अथवा फलागम नामक कार्यावस्था होती है।

जहाँ सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाये उस अवस्था को फलयोग अथवा फलागम नामक कार्यावस्था कहते हैं।

जैसे रत्नावली नाटिका में चक्रवर्तित्व के साथ रत्नावली की प्राप्ति होना। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

13.5 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों! इस इकाई में आपने अर्थोपक्षेपकों, अर्थप्रकृतियों एवं कार्यावस्थाओं के विषय में अध्ययन किया। आप जानते हैं कि जो कथा अंक में दिखाने योग्य तो नहीं, किन्तु बतानी आवश्यक है, अथवा दो दिन से लेकर जो वर्षपर्यन्त होने वाली है एवम् इसके अतिरिक्त कोई अन्य कथा जो अतिविस्तृत हो, उसको भी अर्थोपक्षेपकों के द्वारा ही सूचित करना चाहिए। अर्थोपक्षेपक पाँच हैं – 1. विष्कम्भक, 2. प्रवेशक, 3. चूलिका, 4. अंकावतार, 5. अंकमुख। भूत और भविष्य की कथाओं का सूचक, कथा का संक्षेप करने वाला अंश विष्कम्भक कहलाता है। यह अंक के आदि में रहता है। यह शुद्ध विष्कम्भक एवं मिश्र विष्कम्भक के भेद से दो प्रकार का है। प्रवेशक भी विष्कम्भक के सदृश होता है, किन्तु इसका प्रयोग नीच पात्रों के द्वारा करवाया जाता है और इसमें उक्तियाँ उदात्त नहीं होती। इसका प्रयोग दूसरे अंक के आगे किया जाता है, पहले अंक में नहीं। जवनिका के भीतर स्थित पात्रों के द्वारा की हुई वस्तु (अर्थ) की सूचना को चूलिका कहते हैं। पूर्व अंक के अन्त में उसी के पात्रों द्वारा सूचित किया गया जो अगला अंक अवतीर्ण होता है उसे अंकावतार कहते हैं। जहाँ एक ही अंक में सब अंकों की अविकल सूचना की जाये और जो बीजभूत अर्थ का सूचक हो उसे अंकमुख कहते हैं।

नाट्य की कथावस्तु मे पाँच अर्थप्रकृतियाँ विद्यमान होती हैं – बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। अर्थप्रकृतियाँ फलप्राप्ति में उपायभूत होती हैं। पहली अर्थप्रकृति का नाम है – बीज। इसमें संक्षेप से कथा का निर्देश किया जाता है तथा उसके बाद वह विस्तार को प्राप्त करती है। अवान्तर कथा का विच्छेद हो जाने पर भी जो अर्थप्रकृति प्रधान (मुख्य) कथा का

विच्छेद नहीं होने देती अर्थात् टूटने नहीं देती, उसे बिन्दु नामक दूसरी अर्थप्रकृति कहते हैं। तीसरी पताका और चौथी प्रकरी ये दोनों अर्थप्रकृतियाँ प्रासंगिक कथा के ही भेद हैं। व्यापक अर्थात् दूर तक चलने वाली प्रासंगिक कथा को पताका कहते हैं। एकदेशस्थित प्रासंगिक कथावस्तु को प्रकरी कहते हैं। नायक को होने वाली फलप्राप्ति ही कार्य नामक पाँचवीं अर्थप्रकृति कहलाती है।

इसी प्रकार नायक के फलप्राप्ति हेतु किये जाने वाले कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं– आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। फलप्राप्ति के लिए कर्म करने वाले की इच्छानुसार कार्य आरम्भ करने को आरम्भ नामक कार्यावस्था कहते हैं। फलप्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्न (प्रयास) को यत्न नामक कार्यावस्था कहते हैं। जहाँ फल की प्राप्ति में उपाय और अपाय (विघ्न) दोनों दृष्टिगोचर होते हों तथा कुछ आशंका के साथ फलप्राप्ति की आशा अथवा सम्भावना होने लगे तो वहाँ पर प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था होती है। अपाय का विनाश होने से फलप्राप्ति जब सुनिश्चित हो जाती है तो उसे नियताप्ति नामक कार्यावस्था कहते हैं। सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाने को फलागम नामक कार्यावस्था कहते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में आपने अर्थोपक्षेपकों, अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं के विषय में जानकारी प्राप्त की।

13.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- साहित्यदर्पणम्,व्याख्याकार आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2010
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकारः पं. हरेकान्तमिश्रः, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली,2017
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकार श्रीशालिग्रामशास्त्रि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,1986।
- साहित्यदर्पण , व्याख्याकार मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः, अक्षयवट प्रकाशन प्रयागराज।

13.7 अभ्यास प्रश्न

1. अर्थोपक्षेपक कितने हैं? स्पष्ट कीजिए।
2. नाटक में विष्कम्भक का प्रयोग क्यों किया जाता है? स्पष्ट कीजिए।
3. बीज नामक अर्थप्रकृति को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
4. यत्न नामक कार्यावस्था को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

इकाई – 14 पंचसन्धियाँ एवं उसके अंग

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- नाटक में पंचसन्धियों की संकल्पना को स्पष्ट कर सकेंगे।
- पंचसन्धियों के 64 अंगों का विस्तृत अध्ययन कर सकेंगे।
- पंचसन्धियों के महत्त्व को समझ सकेंगे।
- नये पदों के प्रकृति-प्रत्ययों को समझ सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप नाटक में प्रयोग होने वाली पंचसन्धियों के घटक तत्त्वों अर्थात् पाँच अर्थोपक्षेपकों, पाँच अर्थप्रकृतियों एवं पाँच कार्यावस्थाओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। नाटक के लक्षण में आपने पढ़ा कि **नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्।** अर्थात् नाटक ख्यातवृत्त वाला होना चाहिए तथा पाँच सन्धियों से समन्वित होना चाहिए। इन पाँच सन्धियों को पंचसन्धि अथवा नाट्यसन्धि के नाम से भी जाना जाता है। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण ये पाँच नाट्यसन्धियाँ कहलाती हैं। ये पाँच सन्धियाँ क्रमशः पाँच अर्थप्रकृतियों एवं पाँच अवस्थाओं के योग से बनती हैं। प्रस्तुत इकाई में आप नाट्यसन्धियों का विस्तृत परिचय प्राप्त करेंगे।

14.2 पंचसन्धियाँ

पाँच अर्थप्रकृतियों एवं पाँच अवस्थाओं के योग से क्रमशः पाँच सन्धियाँ बनती हैं।

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पञ्चभिः।

पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्च सन्धयः।।74।।

इन्ही पाँच अवस्थाओं के सम्बन्ध से इतिवृत्त (कथावस्तु) के पाँच विभाग हो जाते हैं और इस प्रकार यथासंख्य पाँच सन्धियाँ बनती हैं। उन विभागों का नाम सन्धि नहीं है अपितु उन्हें आन्तरिक रूप से जोड़ने वाले सम्बन्ध का नाम सन्धि है। जैसे कि सन्धि का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है–

तल्लक्षणमाह–

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति।

अर्थात् एक प्रयोजन से अन्वित होने वाले कथाँशों के अवान्तर सम्बन्ध को सन्धि कहते हैं।

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः।।75।।

इति पञ्चाऽस्य भेदाः स्युः क्रमाल्लक्षणमुच्यते।

सन्धि के पाँच भेद हैं– मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति (निर्वहण) । पाँच कार्यावस्थायें जब पाँच अर्थप्रकृतियों के साथ मिलती हैं तो क्रमशः मुख, प्रतिमुख आदि पाँच सन्धियाँ बनती हैं।

आरम्भ कार्यावस्था तथा बीज अर्थप्रकृति से युक्त इतिवृत्त भाग में मुख नामक सन्धि होती है। यत्न कार्यावस्था तथा बिन्दु अर्थप्रकृति से युक्त इतिवृत्त भाग में प्रतिमुख नामक सन्धि होती है। प्राप्त्याशा कार्यावस्था तथा पताका अर्थप्रकृति से युक्त इतिवृत्त भाग में गर्भ नामक सन्धि होती है। नियताप्ति कार्यावस्था तथा प्रकरी अर्थप्रकृति से युक्त इतिवृत्त भाग में विमर्श नामक सन्धि होती है तथा फलागम कार्यावस्था तथा कार्य अर्थप्रकृति से युक्त इतिवृत्त भाग में निर्वहण नामक सन्धि होती है। उपसंहृति का ही दूसरा नाम निर्वहण है। प्रत्येक सन्धि का अपना-अपना स्वरूप तथा अपने अपने अंग होते हैं। इन सबका वर्णन इस प्रकार है –

14.2.1 मुख सन्धि एवं उसके अंग

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।।76।।

प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम्।

यथा– रत्नावल्यां प्रथमेऽङ्के

जहाँ (जिस सन्धि में) अनेक अर्थों एवं अनेक रसों के सूचक बीज की उत्पत्ति प्रारम्भ नामक अवस्था से युक्त होती है, उसे मुख सन्धि कहते हैं। मुख्य होने के कारण इस सन्धि का नाम

मुख रखा गया है। बीज नामक अर्थप्रकृति की उक्तप्रकार से बतलाई गई उत्पत्ति अनेक अर्थों, वृत्तान्तों तथा श्रृंगार आदि अनेक रसों से उत्साह-रूप हो जाती है।

जैसे रत्नावली नाटिका के प्रथम अंक में सागरिका का राजा को देखना, अमात्य यौगन्धरायण की योजना के अनुसार घटनाक्रम का आरम्भ होना इत्यादि अनेक वृत्तान्त हैं। समस्त पृथिवी को जीतने की इच्छा वाले अमात्य का वीर रस, वसन्त में वत्सराज उदयन श्रृंगार रस, नागरिकों के प्रमोद को देखकर अद्‌भुत रस और उद्यान में पुनः वत्सराज का श्रृंगार रस है। कन्दर्प-पूजा (कामदेव की पूजा) में सागरिका का राजा को देखना 'बीज' है जो कि सागरिका के संगमरूपी उत्साह से युक्त है। इस प्रकार यहाँ मुख सन्धि है।

मुखसन्धि के अंग–

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्।।81।।

युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना।

उद्भेदः करणं भेद एतान्यङ्गानि वै मुखे।।82।।

मुखसन्धि के बारह अंग होते हैं – 1. उपक्षेप, 2. परिकर, 3. परिन्यास, 4. विलोभन, 5. युक्ति, 6. प्राप्ति, 7. समाधान, 8. विधान, 9. परिभावना, 10. उद्‌भेद, 11. करण, 12. भेद।

1. उपक्षेप–

काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः।

काव्यार्थ इतिवृत्तलक्षणप्रस्तुताभिधेयः। यथा वेण्याम्– भीमः –

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।

आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान् स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः।।

काव्यार्थ सम्बन्धित इतिवृत्त (कथावस्तु) के उद्‌भावन (उत्पत्ति) को उपक्षेप कहते हैं अर्थात् इतिहासरूप काव्य के वर्णनीय अर्थ का संक्षेप से निर्देश करना उपक्षेप कहलाता है, जैसे कि वेणीसंहार में भीमसेन की उक्ति–

लाक्षागृह में आग, विषैला भोजन और द्यूतक्रीडार्थ सभाप्रवेश के द्वारा हमारे धन एवं प्राणों पर प्रहार करके तथा हम पाण्डवों की वधू द्रौपदी के वस्त्रों और केशों को खींचकर क्या वे धृष्टराष्ट्र के पुत्र (कौरव) मेरे जीवित रहते हुए स्वस्थ रहेंगे? कदापि नहीं अर्थात् अवश्य मरेंगे।

इस पद्योक्ति में भीम ने पिछली घटना के साथ भविष्य एवं प्रस्तुत (वर्तमान) दशा को भी सूचित कर दिया है।

2. परिकर–

समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः।।83।।

यथा तत्रैव–

प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभि–

र्न तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम्।

जरासन्धस्योरःस्थलमिव विरूढं पुनरपि

क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति यूयं घटयत।।

उत्पन्न अर्थ की बहुलता को परिकर कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार नाटक में समझाने बुझाने का प्रयत्न करने वाले सहदेव के प्रति भीमसेन की उक्ति–

बचपन से ही कौरवों के साथ मेरा वैर बढ़ता चला गया। इसमें न तो युधिष्ठिर भ्राता कारण है और न ही अर्जुन तथा न ही तुम दोनों (नकुल और सहदेव) कारण हो। जरासन्ध के वक्षस्थल की भाँति फिर से पनपती इस सन्धि को यह भीम क्रोध से तोड़ता है, आप लोगों को सन्धि करनी है तो भले ही करो।

3. परिन्यास–

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः–

यथा तत्रैव–

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।

स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि! भीमः।।

उत्पन्न अर्थ की सिद्धि को परिन्यास कहते हैं, जैसे– वेणीसंहारनाटक में भीमसेन की उक्ति–

हे देवि (द्रौपदी)! यह भीम अपनी फड़कती हुई भुजाओं से घुमाई जाती हुई भीषण गदा के प्रहार से दुर्योधन की जंघाओं को रौंदकर निकाले गये प्रगाढ़ रक्त से निश्चल हाथों को रंगता हुआ तुम्हारे केशकलाप को सँवारेगा।

उपक्षेप, परिकर और परिन्यास इनको इस तरह समझना चाहिए –

अत्रोपक्षेपो नामेतिवृत्तलक्षणस्य काव्याभिधेयस्य सङ्क्षेपेणोपक्षेपणमात्रम्। परिकरस्तस्यैव बहुलीकरणम् । परिन्यासस्ततोऽपि निश्चयापत्तिरूपतया परितो हृदये न्यसनम्, इत्येषां भेदः। एतानि चाङ्गानि उक्तेनैव पौर्वापर्येण भवन्ति, अङ्गान्तराणि त्वन्यथापि।

इतिहासरूप काव्य के वर्णनीय (प्रतिपाद्य) अर्थ का सङ्क्षेप से निर्देश करना उपक्षेप कहलाता है और उसी के विस्तार को परिकर कहते हैं तथा इससे भी अधिक निश्चय में उसी बात को हृदय में स्थिर करना परिन्यास कहा जाता है। यही इनका परस्पर क्रमिक भेद है। ये अङ्ग इसी पौर्वापर्य से (क्रम से) होने चाहिएं। अन्य अङ्ग भिन्न क्रम से भी हो सकते हैं।

4. विलोभन–

– गुणाख्यानं विलोभनम्।

यथा तत्रैव– द्रौपदी– नाथ, किं दुष्करं त्वया परिकुपितेन। यथा वा मम चन्द्रकलायां चन्द्रकलावर्णने– सेयम्, 'तारुण्यस्य विलासः'– इत्यादि। यत्तु शाकुन्तलादिषु "ग्रीवाभङ्गाभिरामम्"– इत्यादि मृगादिगुणवर्णनं तद्बीजार्थसम्बन्धभावान्न संध्यङ्म्। एवमङ्गान्तराणामप्यूह्यम्

गुणों का कथन करने का नाम विलोभन है।

जैसे– वेणीसंहार में द्रौपदी के द्वारा भीमसेन के गुणों (साहसिकता आदि) का कथन –

द्रौपदी– हे नाथ, आप परिकुपित होने पर (गुस्सा आने पर) क्या नहीं कर सकते? अर्थात् आप कुछ भी कर सकते हैं। आदि में अथवा मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला' के चन्द्रकलावर्णन के प्रसंग में– यही चन्द्रकला है, तरुणता की विलास मूर्ति' आदि में, जो गुणवर्णन है वह विलोभन रूप ही है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि आभिज्ञानशाकुन्तलम् में "ग्रीवाभङ्गाभिरामम्" इत्यादि पद्य में जो मृग का वर्णन किया गया है, वह सन्धि का अंग नहीं है क्योंकि उसका बीजभूत अर्थ से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार अन्य अंगों के बारे में भी समझना चाहिए।

5. सम्प्रधारण–

सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिः–

अर्थों के निर्धारण करने को युक्ति कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में भीम और सहदेव का संवाद।

6. प्राप्ति–

प्राप्तिः सुखागमः।।84।।

सुख के आगम को प्राप्ति कहते हैं। जैसे– कौरवों का विनाश करने के सन्दर्भ में भीमसेन की क्रोधपूर्ण उक्तियों को सुनकर द्रौपदी के द्वारा सहर्ष वचन बोलना।

7. समाधान–

बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते।

बीज के आगमन को समाधान कहते हैं। जैसे– वेणीसंहार के प्रारम्भ में भीमसेन के द्वारा जिस बीज (कौरवों के विनाश की प्रतिज्ञा के रूप में) की स्थापना की गई थी, वही यहाँ प्रधान नायक युधिष्ठिर के द्वारा अभिमत हो गया है, अतः यह समाधान है अर्थात् बीज का सम्यक् आधान।

8. विधान–

सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम्।।85।।

सुख दुःख से मिश्रित अर्थ को विधान कहते हैं, जैसे– बालचरित नाटक में हर्ष और विषाद से आक्रान्त मनोदशा का वर्णन।

9. परिभावना–

कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना।

कौतूहल युक्त बातों को परिभावना कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में द्रौपदी को संशय था कि युद्ध होगा या नहीं? उसके बाद रण-दुन्दुभि का शब्द सुनकर इस विषय में भीमसेन से पूछना कि यह रण-दुन्दुभि क्यों बजाई जा रही है?

10. उद्‌भेद–

बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्‌भेदः–

बीजभूत अर्थ के प्ररोह को उद्‌भेद कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में द्रौपदी भीमसेन से कहती है कि – नाथ ! युद्ध से वापिस आकर मुझे समाश्वस्त करना। तब भीमसेन की उक्ति– देवि ! कौरवों का विध्वंस किये बिना लज्जा से मुँह नीचा करके आने वाले इस वृकोदर (मुझ भीम) को तुम नहीं देखोगी। अर्थात् आज मै अवश्य कौरवों को मिटा दूँगा और वापिस आकर तुम्हें सब तरह से समाश्वस्त करूँगा।

11. करण–

– करणं पुनः।।86।।

प्रकृतार्थसमारम्भः–

प्रकृत कार्य के आरम्भ का नाम करण है, जैसे– वेणीसंहार में भीमसेन की उक्ति– 'देवि! हम कौरवों का विनाश करने के लिए जा रहे हैं'।

12. भेद–

– भेदः संहतभेदनम्।

मिले हुओं के भेदन को भेद कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में भीमसेन की उक्ति– 'इसलिए आज से मैं आप सब से अलग हूँ'।

कोई विद्वान् प्रोत्साहन को भेद मानते हैं।

14.2.2 प्रतिमुख सन्धि एवं उसके अंग

फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः।।77।।

लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्।

यथा– रत्नावल्यां द्वितीयेङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसंगता-विदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चदुन्नीयमानस्योद्देशरूपः उद्भेदः।

जहाँ मुखसन्धि में निवेशित फलप्रधान उपाय का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य उद्भेद (विकास) हो उसे प्रतिमुख सन्धि कहते हैं, जैसे – रत्नावली नाटिका में वत्सराज और सागरिका (रत्नावली) के समागम का हेतु, इन दोनों का परस्पर प्रेम, जो प्रथम अंक में सूचित कर दिया है, उसे सुसंगता और विदूषक ने जान लिया, अतः वह (अनुराग) कुछ लक्ष्य हुआ और वासवदत्ता ने चित्र के वृत्तान्त से कुछ कुछ ऊहा की, अतः अलक्ष्यता भी रही। इस प्रकार यहाँ प्रतिमुख सन्धि है।

प्रतिमुखसन्धि के अंग–

अथ प्रतिमुखाङ्गानि–

विलासः परिसर्पश्च विधुतं तापनं तथा।।87।।

नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः।

विरोधश्च प्रतिमुखे तथा स्यात्पर्युपासनम्।।88।।

पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि।

प्रतिमुख सन्धि के तेरह अंग होते हैं – 1. विलास, 2. परिसर्प, 3. विधुत, 4. तापन, 5. नर्म, 6. नर्मद्युति, 7. प्रगमन, 8. विरोध, 9. पर्युपासन, 10. पुष्प, 11. वज्र, 12. उपन्यास, 13. वर्णसंहार।

1. विलास–

तत्र–

समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते।।89।।

रतिलक्षणस्य भावस्य यो हेतुभूतो भोगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा तदर्था समीहा विलासः।

यथा शाकुन्तले–

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनायासि।

अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते।।

रति नामक भाव के हेतुभूत भोग (विषयरूप) अर्थात् स्त्री अथवा पुरुष के लिए समीहा = अभिलाषा को विलास कहते हैं, जैसे– अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त की शकुन्तला-विषयक अभिलाषा – भले ही प्रिया (शकुन्तला) सुलभ नहीं है अर्थात् उसका मिलना आसान नहीं है

किन्तु फिर भी मेरा मन उसके भावों को देखने का प्रयास करता रहता है। कामदेव के कृतार्थ न होने पर भी स्त्री पुरुष दोनों की प्रार्थना = अभिलाषा ही रति = प्रेम को जगाती है।

2. परिसर्प–

इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते।

यथा शाकुन्तले–

राजा– भवितव्यमत्र तया। तथा हि –

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्।

द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा।।

इष्ट वस्तु के खोने पर अथवा वियुक्तहोने पर उसका अन्वेषण करने को परिसर्प कहते हैं, जैसे– अभिज्ञानशाकुन्तलम् में तपोवन में दुष्यन्त का शकुन्तला को ढूँढना (अन्वेषण करना)।

राजा – 'इस लताकुञ्ज में शकुन्तला को होना चाहिए, क्योंकि इसके द्वार पर स्वच्छ बालुका में ऐसे पैरों के चिह्न हैं जो अगले हिस्से में तो उठे हुए हैं, किन्तु पिछले भाग में कुछ नीचे गढ़े हुए हैं। ये उसी के (शकुन्तला के) पैर हैं। नितम्ब के भार के कारण पिछले हिस्से में पैरों के निशान गहरे हैं'।

3. विधुत–

कृतस्यानुनयस्यादौ विधुतं त्वपरिग्रहः।।90।।

यथा तत्रैव– शकुन्तला – अलं वः अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन।

केचित्तु– 'विधृतं स्यादरतिः' इति वदन्ति।

किये हुए अनुनय का परिग्रह न करना विधुत कहलाता है। परिग्रह न करना = स्वीकार न करना, जैसे– अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त को रोकने का अनुनय करने वाली सखियों को शकुन्तला का मना करना।

शकुन्तला – अपने अन्तःपुर (रानियों) के विरह से व्याकुल हो रहे इन राजर्षि (दुष्यन्त) को मत रोको।

कोई विद्वान् अरति (रति न होना) को विधुत कहते हैं।

4. तापन–

उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत्।

उपाय का न मिल पाना तापन कहलाता है, जैसे– रत्नावली नाटिका में सागरिका को प्रेमप्राप्ति का उपाय न मिल पाना।

5. नर्म–

परिहासवचो नर्म–

परिहास वचन को नर्म कहते हैं, जैसे– रत्नावली नाटिका में सागरिका से सुसंगता का परिहास।

6. नर्मद्युति–

–द्युतिस्तु परिहासजा।।91।।

नर्मद्युतिः –

परिहास से उत्पन्न द्युति को नर्मद्युति कहते हैं, जैसे– रत्नावली नाटिका में सुसंगता के द्वारा किये गये परिहास के कारण सागरिका का लज्जित, सस्मित और संकुचित होकर असूया सहित भृकुटि चढ़ाकर बोलना।

कोई विद्वान् दोष को छिपाने वाले हास्य को नर्मद्युति कहते हैं।

7. प्रगमन–

–प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम्।

उत्तरोत्तर उत्कृष्ट वाक्य होने को प्रगमन कहते हैं, जैसे– विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी और पुरुरवा का उत्तरोत्तर उत्कृष्ट वाक्य कहना।

8. विरोध–

विरोधो व्यसनप्राप्तिः–

दुःखप्राप्ति (दुःख कष्ट मिलने का नाम) विरोध है, जैसे– चण्डकौशिक नाटक में राजा का कष्टापन्न होना।

9. पर्युपासन–

क्रुद्धस्यानुनयः पुनः ।।92।।

स्यात्पर्युपासनम्–

क्रुद्ध व्यक्ति के प्रति अनुनय को पर्युपासन कहते हैं, जैसे– रत्नावली में कुपित राजा के प्रति विदूषक का अनुनय वचन।

10. पुष्प–

–पुष्पं विशेषवचनं मतम्।

विशेष अनुराग आदि उत्पन्न करने वाले वचन को पुष्प कहते हैं, जैसे– रत्नावली नाटिका में राजा के द्वारा रत्नावली की प्रशंसा में कहे गये प्रणयवचन।

11. वज्र–

प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रम्–

प्रत्यक्ष निष्ठुर वचन को वज्र कहते हैं, जैसे– रत्नावली नाटिका में राजा से सुसंगता का संवाद।

12. उपन्यास–

–उपन्यासः प्रसादनम्।।93।।

प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं, जैसे– रत्नावली नाटिका में अपनी प्रियसखी सागरिका को प्रसन्न करने के लिए सुसंगता का राजा से निवेदन करना।

केचित्तु – उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः स कीर्तितः। इति वदन्ति।

किन्हीं विद्वानों के मत मे अर्थ को युक्ति युक्त करना उपन्यास कहलाता है।

13. वर्णसंहार–

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते।

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों के समागम को वर्णसंहार कहते हैं, जैसे– महावीरचरितम् के तीसरे अंक में परशुराम के आने पर ऋषियों की सभा, वीर युधाजित् तथा मन्त्रियों सहित राजा जनक का वर्णन।

आचार्य अभिनवगुप्त के मत में यहाँ वर्ण शब्द का अर्थ पात्र है तथा संहार शब्द का अर्थ मेलन है। वर्णानां मेलनम् = पात्राणां मेलनम्। अर्थात् नाटक के पात्रों का मेलन (मिलना)।

14.2.3 गर्भ सन्धि एवं उसके अंग

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन।।78।।

गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः।

फलस्य गर्भीकरणाद् गर्भः। यथा रत्नावल्यांद्वितीयेङ्के– सुसंगता– सखि! अदक्षिणेदानीमसि त्वं या एवं भर्त्रा हस्तेन गृहीतापि कोपं न मुञ्चसि। इत्यादौ समुद्भेदः। पुनर्वासवदत्ताप्रवेशे ह्रासः। तृतीयेङ्के– 'तद्वार्तान्वेषणाय गतः कथं चिरयति वसन्तकः' इत्यन्वेषणम्। विदूषकः– ही ही भोः कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रियवयस्यस्य परितोषः यादृशी मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यति। इत्यादावुद्भेदः। पुनरपि वासवदत्ताप्रत्यभिज्ञानाद् ह्रासः। सागरिकायाः सङ्केतस्थानागमनेऽन्वेषणम्। पुनर्लतापाशकरणे उद्भेदः।

पूर्व सन्धियों में कुछ-कुछ प्रकट हुए फलप्रधान उपाय का जहाँ ह्रास और अन्वेषण से युक्त बार-बार विकास हो वहाँ गर्भ नामक सन्धि होती है। फल को भीतर रखने के कारण इसे गर्भ कहते हैं।

जैसे– रत्नावली नाटिका के द्वितीय अंक में वत्सराज के द्वारा सागरिका का हाथ पकड़ने पर सुसंगता की उक्ति से फलप्रधान उपाय का उद्भेद हुआ है। उसी समय वासवदत्ता का प्रवेश होने से ह्रास हुआ है। तृतीय अंक में राजा की उक्ति से उसका अन्वेषण सूचित हुआ है। इस पर विदूषक की उक्ति से फिर से उद्भेद होता है। वासवदत्ता फिर भी जान गई, अतः ह्रास हुआ है। सागरिका के संकेत स्थान पर जाने से अन्वेषण और लतापाश बनाने से उसी अनुराग का उद्भेद हुआ है इस प्रकार यहाँ गर्भ सन्धि है।

गर्भ सन्धि के अंग –

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः।।94।।

सङ्ग्रहश्चानुमानं च प्रार्थना क्षिप्तिरेव च।

त्रो(तो)टकाधिबलोद्वेगा गर्भे स्युर्विद्रवस्तथा।।95।।

गर्भ सन्धि के तेरह अंग होते हैं– 1. अभूताहरण, 2. मार्ग, 3. रूप, 4. उदाहरण, 5. क्रम, 6. सङ्ग्रह, 7. अनुमान, 8. प्रार्थना, 9. क्षिप्ति, 10. त्रोटक, 11. अधिबल, 12. उद्वेग, 13. विद्रव।

1. अभूताहरण–

तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम्।

कपट युक्तवचन को अभूताहरण कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार के अश्वत्थामा अंक में अश्वत्थामा नामक हाथी के मरने पर युधिष्ठिर का कपटवचन – अश्वत्थामा हतो हतः (अश्वत्थामा मारा गया)।

2. मार्ग–

तत्त्वार्थकथनं मार्गः–

यथार्थ बात कहने को मार्ग कहते हैं, जैसे– चण्डकौशिक नाटक में राजा हरिश्चन्द्र का विश्वामित्र के प्रति कहा गया यथार्थ वचन कि मैंने स्त्री, पुत्र को तो बेच दिया है और अब मैं स्वयं को भी चाण्डाल के हाथों बेच कर आपका धन चुका दूँगा।

3. रूप–

–रूपं वाक्यं वितर्कवत्।।96।।

विशेष तर्कयुक्त वचन को रूप कहते हैं, जैसे– रत्नावली नाटिका में राजा की उक्ति कि मन तो अत्यन्त चञ्चल और दुर्लक्ष्य होता है, तो फिर कामदेव के सभी बाणों ने इसे कैसे बींध दिया।

4. उदाहरण–

उदाहरणमुत्कर्षयुक्तं वचनमुच्यते।

उत्कर्षयुक्त वचन को उदाहरण कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में द्रोणाचार्य की मृत्यु के उपरान्त अत्यन्त क्रोधित अश्वत्थामा के वचन।

5. क्रम–

भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्–

किसी के भाव का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना क्रम कहलाता है, जैसे– अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला के हाव-भावों से राजा का उसके अनुराग के बारे में यथार्थ रूप से जानना।

6. संग्रह–

–संग्रहः पुनः।।97।।

सामदानार्थसंपन्नः।

साम और दान से सम्पन्न अर्थ को संग्रह कहते हैं, जैसे– रत्नावली में प्रशंसा करते हुए राजा का विदूषक को पारितोषिक (इनाम) देना।

7. अनुमान–

–लिङ्गादूहोऽनुमानता।

किसी हेतु से अथवा चिह्नविशेष से कुछ ऊह कर लेना (अन्दाजा लगाना) अनुमान कहलाता है, जैसे– जानकीराघव नाटक में लव और कुश की चाल ढाल तथा पराक्रम को देखकर राम का उनके सूर्यवंशी होने का अनुमान लगाना।

8. प्रार्थना–

रतिहर्षोत्सवानां तु प्रार्थनं प्रार्थना भवेत्।।98।।

रति, हर्ष और उत्सवों के लिए अभ्यर्थना को प्रार्थना कहते हैं, जैसे– रत्नावली नाटिका में सागरिका का प्रगाढ आलिंगन पाने के लिए कामसंतप्त राजा के प्रणयपूर्ण प्रशंसावचन।

विशेष– यह प्रार्थना नामक अंग उन्हीं विद्वानों के मत में माना गया है जो निर्वहण सन्धि में प्रशस्ति नामक अंग को स्वीकार नहीं करते हैं। जो निर्वहण सन्धि में प्रशस्ति नामक अंग को स्वीकार करते हैं वे गर्भ सन्धि के प्रार्थना नामक अंग को नहीं मानते। अन्यथा सन्धियों के कुल पैंसठ अंग हो जायेंगे। जबकि नाट्यशास्त्र के अनुसार पाँचों सन्धियों के कुल मिलाकर चौंसठ अंग ही होने चाहिए।

9. क्षिप्ति–

रहस्यार्थस्य तूद्भेदः क्षिप्तिः स्यात् –

रहस्य के भेद को क्षिप्ति कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार के अश्वत्थामा अंक में द्रौपदी के केशग्रह (दुःशासन के द्वारा बाल खींचा जाना) तथा द्रोणाचार्य के केशग्रह (धृष्टद्युम्न के द्वारा बाल

पकड़ कर वध करना) का रहस्य उनके भयानक परिणामों के वर्णन से उद्घाटित किया गया है।

10. त्रोटक–

त्रो(तो)टकं पुनः।

संरब्धवाक्–

अधीरतापूर्ण वचन को त्रोटक कहते हैं, जैसे– चण्डकौशिक नाटक में कौशिक (ऋषि विश्वामित्र) के अधीरता से भरे वचन।

11. अधिबल–

–अधिबलमभिसन्धिश्छलेन यः।।99।।

छल से किसी का अनुसन्धान करने या उसे पकड़ लेने को अभिसन्धि कहते हैं, जैसे– रत्नावली नाटिका में चित्रशाला में छलपूर्वक राजा और विदूषक का पकड़ा जाना।

12. उद्वेग–

नृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्तितः।

राजा आदि से उत्पन्न भय को उद्वेग कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार नाटक में कर्णसंहारक अर्जुन और दुःशासनवक्षविदारक भीमसेन के द्वारा पीछा किये जाने की बात से दुर्योधन के मन में उपजा भय।

13. विद्रव–

शङ्काभयत्रासकृतः सम्भ्रमो विद्रवो मतः।।100।।

शंका, भय और त्रास से उत्पन्न सम्भ्रम (घबराहट) को विद्रव कहते हैं, जैसे– कालान्तक-करालमुख दशानन (रावण) को देखकर वानर-सेना में उत्पन्न सम्भ्रम।

14.2.4 विमर्श सन्धि एवं उसके अंग

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः।।79।।

शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः।

यथा शाकुन्तले चतुर्थङ्कादौ– अनसूया– प्रियंवदे! यद्यपि गान्धर्वेण विवीन निवृत्तकल्याणा प्रियसखी शकुन्तला, तथापि अनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निवृत्तं मे हृदयम्, तथाप्येतावच्चिन्तनीयं, इत्यत आरभ्य सप्तमाङ्कोपक्षिप्ताच्छकुन्तलाप्रत्यभिज्ञानात्प्रागर्थसञ्चयः शकुन्तलाविस्मरणरूपविघ्नालङ्गितः।

जहाँ (जिस सन्धि में) मुख्य फल का उपाय गर्भ सन्धि की अपेक्षा अधिक उद्भिन्न (विकसित) हो, किन्तु शाप आदि के कारण अन्तराय (विघ्न) युक्त हो तो उसे विमर्श सन्धि कहते हैं।

जैसे– अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अंक में शकुन्तला के गान्धर्वविवाह (प्रेमविवाह) से लेकर सप्तम अंक में शकुन्तला के प्रत्यभिज्ञान होने से पूर्व की कथा शापवशात् विस्मरणरूपी विघ्न से युक्त है। इस प्रकार यहाँ विमर्श सन्धि है।

विमर्श सन्धि के अंग–

अथ विमर्शाङ्गानि–

अपवादोऽथ संफेटो व्यवसायो द्रवो द्युतिः।

शक्तिः प्रसङ्गः खेदश्च प्रतिषेधो विरोधनम्।।101।।

प्ररोचना विमर्शे स्यादादानं छादनं तथा।

विमर्श सन्धि के तेरह अंग होते हैं – 1. अपवाद, 2. संफेट, 3. व्यवसाय, 4. द्रव, 5. द्युति, 6. शक्ति, 7. प्रसंग, 8. खेद, 9. प्रतिषेध, 10. विरोधन, 11. प्ररोचना, 12. आदान, 13. छादन।

1. अपवाद–

दोषप्रख्यापवादः स्यात्–

दोषकथन का नाम अपवाद है, जैसे– वेणीसंहार नाटक में युद्ध क्षेत्र में दुःशासन को ढूँढते हुए युधिष्ठिर का उसके अपराध (द्रौपदी को केशों से पकड़कर घसीटना इत्यादि दोष) का कथन करना।

2. संफेट–

–संफेटो रोषभाषणम्।।102।।

क्रोध भरे वचन को संफेट कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में भीम और दुर्योधन के परस्पर क्रोध से भरे वचन।

3. व्यवसाय–

व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः।

प्रतिज्ञा और हेतु से सम्भूत अर्थ को व्यवसाय कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार नाटक में धृतराष्ट्र के प्रति भीम की उक्ति–

सब कौरवों को चूर-चूर करने वाला, दुःशासन के रुधिर से मत्त होने वाला और दुर्योधन की भी जंघा तोड़ने को तत्पर यह भीम आप (धृतराष्ट्र) को सिर से प्रणाम करता है।

4. द्रव–

द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसम्भवा।।103।।

शोक, आवेग आदि के कारण गुरुजनों का अतिक्रम करने को द्रव कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में युधिष्ठिर की उक्ति में छोटे-बड़े सभी के प्रति बलराम के द्वारा किये गये उपेक्षाभाव का वर्णन।

5. द्युति–

तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता द्युतिः–

तर्जन और उद्वेजन को द्युति कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में जलाशय में छिपे दुर्योधन को तर्जनापूर्वक (फटकार लगाते हुए) भीम के द्वारा ललकारना।

6. शक्ति–

–शक्तिः पुनर्भवेद्।

विरोधस्य प्रशमनम्–

विरोध के शमन को शक्ति कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में युद्ध की समाप्ति पर अपने-अपने भाई बन्धुओं के शव ले जाने तथा सेनाबलों को उपसंहार (विश्राम) करने की घोषणा।

7. प्रसङ्ग–

–प्रसङ्गो गुरुकीर्त्तनम्।।104।।

गुरुओं के वर्णन को प्रसंग कहते है, जैसे– मृच्छकटिक में चारुदत्त के द्वारा वध और यज्ञ आदि के अभ्युदय प्रसंग में किया गया गुरुकीर्तनम् (अपने गुरुजनों का उल्लेख)।

8. खेद–

मनश्चेष्टासमुत्पन्नः श्रमः खेद इति स्मृतः।

मानसिक अथवा शारीरिक व्यापार (क्रियाकलाप) से उत्पन्न श्रम को खेद कहते हैं। मानसिक खेद जैसे– मालतीमाधवम् प्रकरण में विरहव्यथा से ओत-प्रोत अनेक विचारों के संचरण श्रम से माधव का खिन्न होना।

इसी प्रकार शारीरिक (चेष्टाजन्य) श्रम का उदाहरण भी समझ लेना चाहिए।

9. प्रतिषेध–

ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेध इतीष्यते।

अभीष्ट वस्तु के प्रतीघात (विच्छेद) को प्रतिषेध कहते हैं, जैसे– प्रभावती नाटक में प्रद्युम्न से मिलने के लिए आती हुई प्रभावती को असुरराज के द्वारा उठाकर ले जाना।

10. विरोधन–

कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम्।।

किसी कर्तव्य में विघ्नोपस्थापन विरोधन कहलाता है, जैसे– वेणीसंहार में भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य जैसे वीरों के स्वर्ग चले जाने पर पाण्डवों की विजय जब लगभग निश्चित हो गई थी, उस समय भीम के वचन से उस विजय का संशय में पड़ना।

11. प्ररोचना–

प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी।।106।।

अर्थ का उपसंहार दिखाने को प्ररोचना कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में विजय में कोई सन्देह न रहने पर मंगल रत्नकलश भरे जाने तथा द्रौपदी के केश-गुम्फन के उत्सव की तैयारी।

12. आदान–

कार्यसङ्ग्रह आदानम्–

कार्य के संग्रह को आदान कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में समस्त शत्रुओं का वध करने के बाद शेष बचे क्षत्रियों को निर्भय करना। यहाँ सम्पूर्ण शत्रुओं के वधरूपी कार्य का संग्रह किया गया है।

13. छादन–

–तदाहुश्छादनं पुनः।

कार्यार्थमपमानादेः सहनं खलु यद्भवेत्।।107।।

अपने कार्य के लिए अपमान आदि के सहन करने को छादन कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में अर्जुन की भीम के प्रति उक्ति– 'हे आर्य! क्रोध मत कीजिए। यह दुर्योधन वाणीमात्र से ही हमारा अप्रिय कर सकता है, कर्म से तो कुछ भी अप्रिय नहीं कर सकता। इसके सौ भाई मारे गये हैं। यह दुःखी है। आप इसके प्रलाप (बकवास) से क्यों विचलित होते हैं?'

14.2.5 निर्वहण सन्धि एवं उसके अंग

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।।80।।

एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।

यथा वेण्याम्, 'कञ्चुकी– (उपसृत्य,सहर्षम्) महाराज! वर्धसे। अयं खलु भीमसेनो दुर्योधनक्षतजारुणीकृतसर्वशरीरोदुलक्ष्यव्यक्तिः' इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसन्ध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थयोजनम्।

यथा वा– शाकुन्तले सप्तमाङ्के शकुन्तलाभिज्ञानादुत्तरोऽर्थराशिः।

जहाँ (जिस सन्धि में) बीज से युक्तमुख आदि सन्धियों में बिखरे हुए अर्थों को एक प्रधान प्रयोजन में यथावत् समन्वित कर दिया जाये उसे निर्वहणसन्धि कहते हैं, जैसे वेणीसंहार के इस प्रसंग में– कंचुकी– (पास जाकर, सहर्ष) महाराज! जय हो।

'दुर्योधन के रक्त से रंजित और इसीलिए पहचान में न आने वाले ये भीमसेन ही हैं' आदि में इस नाटक के प्रधान फल के निष्पादन का जो उपन्यास है वह निर्वहण सन्धि रूप ही रूपकार्थ है। वस्तुतः यही वह रूपकार्थ है जिसकी निष्पत्ति के लिए उन-उन सन्धियों में यथास्थान विन्यस्त द्रौपदीकेशसंयमनादिरूप बीजादिभूत इतिवृत्त उन्मुख होते रहे हैं।

अथवा अभिज्ञानशाकुन्तल के सप्तम अंक में शकुन्तला के अभिज्ञान (परिज्ञान) हो जाने के बाद की सम्पूर्ण कथा में निर्वहण सन्धि है।

निर्वहण सन्धि के अंग–

अथ निर्वहणाङ्गानि।

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम्।

कृतिः प्रसाद आनन्दः समयोऽप्युपगूहनम्।।108।।

भाषणं पूर्ववाक्यञ्च काव्यसंहार एव च।

प्रशस्तिरिति संहारे ज्ञेयान्यङ्गानि नामतः।।109।।

निर्वहण सन्धि के चौदह अंग होते हैं – 1. सन्धि, 2. विबोध, 3. ग्रथन, 4. निर्णय, 5. परिभाषण, 6. कृति, 7. प्रसाद, 8. आनन्द, 9. समय, 10. उपगूहन, 11. भाषण, 12. पूर्ववाक्य, 13. काव्यसंहार, 14. प्रशस्ति।

1. सन्धि–

तत्र–

बीजोपगमनं सन्धिः–

बीजभूत अर्थ के उद्भावित करने को सन्धि कहते हैं। उपगमन = उद्भावन। जैसे– वेणीसंहार नाटक में द्रौपदी के सम्मुख भीम का अपनी पूर्वकृत प्रतिज्ञा (दुर्योधन की जंघा तोड़कर खून से सने हाथों से द्रौपदी के केशों को संवारने की प्रतिज्ञा) को पुनः स्मरण करना।

2. विबोध–

–विबोधः कार्यमार्गणम्।

कार्य के अन्वेषण को विबोध कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार नाटक में दुर्योधन के खून से सने हाथों से द्रौपदी के केश संवारने (वेणीसंहार) के लिए भीम का जाने के लिए तत्पर होना।

3. ग्रथन–

उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनम्–

कार्यों के उपन्यास को ग्रथन कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में द्रौपदी के प्रति भीम की उक्ति–

'देवि! मेरे जीवित रहते तुम दुःशासन के द्वारा खींची गई अपनी यह बिखरी वेणी (चोटी) अपने हाथों से मत बाँधो। ठहरो, मैं स्वयं बाँधूंगा'।

यहाँ कार्य के उपक्षेप से ग्रथन हुआ है।

4. निर्णय—

निर्णयः पुनः।।110।।

अनुभूतार्थकथनम् —

अनुभूत अर्थ के कथन को निर्णय कहते हैं, जैसे— वेणीसंहार में दुर्योधन को मारना, उसके रक्त को शरीर पर मलना, समस्त पृथ्वी और लक्ष्मी महाराज युधिष्ठिर को अर्पित करना, सारे कुरुवंश को रण की अग्नि में भस्म करना तथा दुर्योधन का नाममात्र शेष बचना इत्यादि ये भीम का अनुभूतार्थ कथन है।

5. परिभाषण—

—वदन्ति परिभाषणं।

परिवादकृतं वाक्यम्—

निन्दायुक्त वाक्य को परिभाषण कहते हैं, जैसे— अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम अंक में राजा दुष्यन्त जब पूछता है कि वह देवी (शकुन्तला) किस राजर्षि की पत्नी है? तो तापसी उत्तर देती है कि अपनी धर्मपत्नी का परित्याग करने वाले उसका नाम भी कौन लेगा?

6. कृति—

—लब्धार्थशमनं कृतिः।।111।।

प्राप्त किये हुए अर्थों से शोक आदि का शमन करने को कृति कहते हैं, जैसे— वेणीसंहार में श्रीकृष्ण की उक्ति— 'ये भगवान् व्यास और वाल्मीकि आदि ऋषि अभिषेक जल लेकर पधारे हैं'।

यहाँ राज्याभिषेक मंगल की प्राप्ति से स्थिरता सूचित की गई है।

7. प्रसाद—

शुश्रूषादिः प्रसादः स्यात्—

शुश्रूषा आदि को प्रसाद कहते हैं, जैसे— वेणीसंहार में भीम का द्रौपदी के केश सँवारना।

8. आनन्द—

—आनन्दो वाञ्छितागमः।।

वाञ्छित = अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति को आनन्द कहते हैं, जैसे— वेणीसंहार में द्रौपदी की भीम के प्रति उक्ति— 'नाथ (आप) के प्रसाद से ये सजना सँवरना (जो विस्मृत हो चुका था) फिर से सीख जाऊंगी'।

9. समय—

समयो दुःखनिर्याणम्–

दुःख निकल जाने को समय कहते हैं, जैसे– रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता का रत्नावली को आलिंगन करते हुए आश्वासन देना।

10. उपगूहन–

–तद्भवेदुपगूहनम्।।112।।

यत् स्याददद्भुतसम्प्राप्तिः–

अद्भुत वस्तु की प्राप्ति को उपगूहन कहते हैं, जैसे– प्रभावती नाटिका में आकाश से उतरते नारद मुनि को देखकर प्रद्युम्न के द्वारा कैलास पर्वत की कल्पना करते हुए उनका अद्भुत वर्णन करना।

11. भाषण–

–सामदानादि भाषणम्।

साम, दान आदि को भाषण कहते हैं, जैसे– चण्डकौशिक नाटक में धर्मराज द्वारा हरिश्चन्द्र को धर्मलोक में अधिष्ठित करना।

12. पूर्ववाक्य–

पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयं यथोक्तार्थोपदर्शनम्।।113।।

पूर्वोक्त अर्थ के उपदर्शन को पूर्ववाक्य कहते हैं, जैसे– वेणीसंहार में भीम का बुद्धिमतिका से पूछना कि भानुमती (दुर्योधन की पत्नी) कहाँ है? भला अब आकर वह पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी का पराभव (तिरस्कार) करे।

13. काव्यसंहार–

वरप्रदानसम्प्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते।

वरदान की प्राप्ति का नाम काव्यसंहार है। जैसा कि प्रायः सभी नाटकों में होता है।

14. प्रशस्ति–

नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते।।114।।

राजा और देश आदि की शान्ति को प्रशस्ति कहते हैं, जैसे– प्रभावती नाटिका में राजाओं की प्रजा के प्रति स्नेहप्रवृत्ति, गुणिजनों की अभ्युन्नति, पृथ्वी की धन-धान्य-समृद्धि तथा नारायण भगवान् के प्रति सबकी भक्ति की कामना करना।

यहाँ अन्त में उपसंहार और प्रशस्ति की स्थिति इसी क्रम से होती है।

विशेष–

कई विद्वानों के मतानुसार यद्यपि ये सभी सन्धियों के आवश्यक अंग हैं तथापि कुछ अंगों की प्रधानता रहती है और कुछ अंगों की यथासम्भव स्थिति स्वीकार की जाती है, जैसे–

1 मुख सन्धि में उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्‌भेद और समाधान की प्रधानता होती है।

2 प्रतिमुख सन्धि में परिसर्पण, प्रगमन, वज्र, उपन्यास और पुष्प की प्रधानता होती है।

3 गर्भ में अभूताहरण, मार्ग, त्रोटक, अधिबल और क्षेप की प्रधानता रहती है।

4 विमर्श में अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान की प्रधानता होती है।

और शेष अंगों की यथासम्भव स्थिति होती है।

चतुःषष्टिविधं ह्येतदङ्गं प्रोक्तं मनीषिभिः।

कुर्यादनियते तस्य सन्धावपि निवेशनम्।।115।।

रसानुगुणतां वीक्ष्य रसस्यैव हि मुख्यता।

इन चौसठ अंगों में से रस के अनुसार अन्य सन्धि के अंगों का अन्यत्र भी निवेश (प्रयोग) हो सकता है, क्योंकि रस की ही प्रधानता मानी गई है। रस ही मुख्य है।

14.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने पाँच नाट्यसन्धियों एवं उनके सभी अंगों के बारे में पढ़ा और जाना कि पाँच अर्थप्रकृतियों एवं पाँच अवस्थाओं के योग से क्रमशः पाँच सन्धियाँ बनती हैं – मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति (निर्वहण)। जहाँ (जिस सन्धि में) अनेक अर्थों एवं अनेक रसों के सूचक बीज की उत्पत्ति प्रारम्भ नामक अवस्था से युक्त होती है, उसे मुख सन्धि कहते हैं। मुख्य होने के कारण इस सन्धि का नाम मुख रखा गया है। बीज नामक अर्थप्रकृति की उक्त प्रकार से बतलाई गई उत्पत्ति अनेक अर्थों, वृत्तान्तों तथा श्रृंगार आदि अनेक रसों से उत्साह-रूप हो जाती है। मुखसन्धि के बारह अंग हैं – 1. उपक्षेप, 2. परिकर, 3. परिन्यास, 4. विलोभन, 5. युक्ति, 6. प्राप्ति, 7. समाधान, 8. विधान, 9. परिभावना, 10. उद्‌भेद, 11. करण, 12. भेद।

जहाँ मुखसन्धि में निवेशित फलप्रधान उपाय का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य उद्‌भेद (विकास) हो उसे प्रतिमुख सन्धि कहते हैं। प्रतिमुख सन्धि के तेरह अंग हैं – 1. विलास, 2. परिसर्प, 3. विधुत, 4. तापन, 5. नर्म, 6. नर्मद्युति, 7. प्रगमन, 8. विरोध, 9. पर्युपासन, 10. पुष्प, 11. वज्र, 12. उपन्यास, 13. वर्णसंहार।

पूर्व सन्धियों में कुछ-कुछ प्रकट हुए फलप्रधान उपाय का जहाँ ह्रास और अन्वेषण से युक्त बार-बार विकास हो वहाँ गर्भ नामक सन्धि होती है। फल को भीतर रखने के कारण इसे गर्भ कहते हैं। गर्भ सन्धि के तेरह अंग` हैं – 1. अभूताहरण, 2. मार्ग, 3. रूप, 4. उदाहरण, 5. क्रम, 6. सङ्ग्रह, 7. अनुमान, 8. प्रार्थना, 9. क्षिप्ति, 10. त्रोटक, 11. अधिबल, 12. उद्वेग, 13. विद्रव।

जहाँ (जिस सन्धि में) मुख्य फल का उपाय गर्भ सन्धि की अपेक्षा अधिक उद्भिन्न (विकसित) हो, किन्तु शाप आदि के कारण अन्तराय (विघ्न) युक्त हो तो उसे विमर्श सन्धि कहते हैं। विमर्श सन्धि के तेरह अंग हैं – 1. अपवाद, 2. संफेट, 3. व्यवसाय, 4. द्रव, 5. द्युति, 6. शक्ति, 7. प्रसंग, 8. खेद, 9. प्रतिषेध, 10. विरोधन, 11. प्ररोचना, 12. आदान, 13. छादन।

जहाँ (जिस सन्धि में) बीज से युक्त मुख आदि सन्धियों में बिखरे हुए अर्थों को एक प्रधान प्रयोजन में यथावत् समन्वित कर दिया जाये उसे निर्वहणसन्धि कहते हैं। निर्वहण सन्धि के चौदह अंग हैं – 1. सन्धि, 2. विबोध, 3. ग्रथन, 4. निर्णय, 5. परिभाषण, 6. कृति, 7. प्रसाद, 8. आनन्द, 9. समय, 10. उपगूहन, 11. भाषण, 12. पूर्ववाक्य, 13. काव्यसंहार, 14. प्रशस्ति।

इन चौसठ अंगों में से रस के अनुसार अन्य सन्धि के अंगों का अन्यत्र भी निवेश (प्रयोग) हो सकता है, क्योंकि रस की ही प्रधानता मानी गई है। रस ही मुख्य है।

14.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- साहित्यदर्पणम्,व्याख्याकार आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2010
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकारः पं. हरेकान्तमिश्रः, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली,2017
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकार श्रीशालिग्रामशास्त्रि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,1986।
- साहित्यदर्पण , व्याख्याकार मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः, अक्षयवट प्रकाशन प्रयागराज।
- साहित्यदर्पणः, (मंजू–संस्कृतव्याख्या– हिन्द्यनुवादोपेतः) व्याख्याकार लोकमणिदाहालादि– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, स0 2054
- साहित्यदर्पण–विश्वनाथ, (व्याख्याकार)सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1988

14.5 अभ्यास प्रश्न

1. मुखसन्धि का लक्षण लिखिए।
2. मुखसन्धि के कितने अंग हैं? स्पष्ट कीजिए।
3. प्रतिमुख सन्धि का लक्षण उदाहरण सहित बताइये।
4. गर्भसन्धि का स्वरूप सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
5. गर्भसन्धि के अंगों का नाम लिखकर यथेष्ट किसी एक अंग का उदाहरण प्रस्तुत कीजिए।
6. विमर्श सन्धि का लक्षण लिखिए।
7. निर्वहण सन्धि के कितने अंग हैं? स्पष्ट कीजिए।

इकाई 15 काव्य एवं उसके भेद

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- गद्यसाहित्य का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- संस्कृत गद्य एवं पद्य तथा उसके भेदों का सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे।
- मुक्तक, युग्मक, महाकाव्य, खण्डकाव्य, गद्यकाव्य उसके भेद कथा एवं आख्यायिका, चम्पूकाव्य आदि के बारे में ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- गद्य, पद्य, एवं चम्पू काव्य के लक्षणों एवं उदाहरणों से परिचित होंगे।

15.1 प्रस्तावना

काव्य को श्रव्य एवं दृश्य दो भागों में विभक्त किया गया है। श्रव्यकाव्य भी गद्य, पद्य एवं चम्पू काव्य में विभक्त है। दृश्यकाव्य रूपक एवं उपरूपक में विभक्त है। पद्यकाव्य में छन्द, गण या मात्रा की गणना की जाती है। गद्यकाव्य में इसकी गणना नहीं की जाती। चम्पूकाव्य में गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण होता है। **गद्यपद्यमयं काव्यं**

चम्पूरित्यभिधीयते।। प्रस्तुत इकाई में आप कथा और आख्यायिका, मुक्तक काव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि के लक्षणों एवं उदाहरणों का अध्ययन करेंगे।

15.2 काव्य एवं उसके भेद

15.2.1 गद्यकाव्य– कथा और आख्यायिका

गद्य का उद्भव एवं विकास – गद्य का प्रथम रूप हमें यजुर्वेद की संहिताओं में प्राप्त होता है। **अनियताक्षरावसानं यजुः** तथा **गद्यात्मकं यजुः**। वाक्यों में आने वाले शब्दों की सीमा जहाँ नहीं होती ऐसे वैदिक वाक्यों को यजुस् कहते हैं। वस्तुतः ऋक् और साम पद्यात्मक तथा यजुस् विशेष कृष्ण यजुर्वेद गद्यात्मक है। काठक, मैत्रायणी संहिता आदि में गद्य की सत्ता इसी प्रकार है। अथर्ववेद में भी गद्य का प्रचुर प्रयोग है। ब्राह्मण ग्रन्थ प्रायः गद्यात्मक हैं। इनमें मुख्य शतपथ, ऐतरेय, शांखायन, तैत्तिरीय और गोपथ ब्राह्मण हैं। यज्ञों का वर्णन होने के कारण इसका प्रयोग उचित ही है। आरण्यक एवं उपनिषदों में भी गद्य की प्रचुरता है। वैदिक साहित्य में गद्य का प्रयोग बहुत ही व्यापक, उदार और उदात्त रूप में हुआ है।

प्रातिशाख्य, कल्पसूत्र, (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, और शुल्वसूत्र) तथा निरुक्त भी गद्य में लिखे गए हैं। वैदिक सूत्रगन्थों की परम्परा से ही शास्त्रीय गद्य का विकास हुआ। भारतीय षड्दर्शन न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त में भी गद्य की प्रचुर मात्रा है। संस्कृत व्याकरण भी इसी सूत्रशैली में विकसित हुआ। पाणिनि की अष्टाध्यायी इसका निदर्शन है।

पुराणों का अधिकांश भाग पद्यमय है। इनमें यत्र-तत्र गद्य भी उपलब्ध है। पौराणिक गद्य को लौकिक व वैदिक गद्य के मध्य सेतु कहा जा सकता है। इसकी भाषा सहज एवं प्रांजल है। पद्य की भाँति गद्य में भी प्रासादिकता, अलंकारिता एवं प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है। लौकिक गद्यकाव्य परम्परा का अवलोकन करें तो गुणाढ्य, सुबन्धु, दण्डी, बाणभट्ट एवं पं0 अम्बिकादत्त व्यास की गद्यमयी प्रांजल एवं मनोहारी कृतियाँ दृष्टिपथ में आती हैं। इन कवियों ने गद्य की जो निर्झरिणी संस्कृत वाङ्मय में प्रवाहित की है उसमें अवगाहन कर सम्पूर्ण सुसंस्कृत सहृदय जनमानस अपने आपको कृतकार्य समझता है। इन्हीं सबका विवरण आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

संस्कृत गद्य की विशेषताएँ –

संस्कृत भाषा के गद्यसाहित्य की अपनी विशिष्टता है। गद्य की मुख्य विशेषता सरलता, स्वाभाविकता, प्रवाहशीलता, रोचकता एवं संवादात्मकता है। इसमें सरल भावों व साधारण

बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत गद्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी लघुता है। जो विचार अन्य भाषा में लम्बे वाक्य में प्रकट किये जा सकते हैं, वे संस्कृत गद्य के एक ही वाक्य में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। जिसका कारण समास की सत्ता है, समास संस्कृत भाषा का प्राण है। समास में अधिक से अधिक अर्थ को कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है। ओज गुण के कारण संस्कृत गद्य में विशिष्ट प्रकार की भावग्राहिता होती है जिससे गद्य का सौन्दर्य पूर्णरूप से निखर उठता है। **समास की बहुलता** ओज का लक्षण है और यही ओज गद्य का प्राण है। **'ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्'**। दण्डी की यह उक्ति है, जिसका आविर्भाव गद्य साहित्य के स्वर्णयुग में हुआ था।

संस्कृत गद्य की यह विशिष्टता प्राचीन काल से चली आ रही है। प्रथम द्वितीय शताब्दी के शिलालेखों में भी गद्य की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। रुद्रदामन के शिलालेख को पढ़ने से यह आभास होता है, कि हम बाण की शैली से प्रभावित गद्य पढ़ रहे हैं। यह गद्य बाण से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व ही लिखा गया था। हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति का गद्य भी इसी प्रकार प्रौढ़ समास युक्त है। शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रौढ गद्य की पराकाष्ठा दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार संस्कृत-गद्य प्राचीन, प्रौढ, उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है।

गद्यकाव्य के भेद –

संस्कृत गद्यकाव्य के दो मुख्य भेद माने गये हैं – कथा और आख्यायिका। अमरकोश में भी आख्यायिकोपलब्धार्थो 1/6/5 और प्रबन्धकल्पनाकथा 1/6/6 कहकर भी इनका भेद किया गया है। आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में भी गद्य के दो भेद प्राप्त होते हैं। गद्य के भेद कथा और आख्यायिका हैं–

> **कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।।332।।**
> **क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके।**
> **आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्।।333।।**
> **आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेवंर्शानुकीर्तनम्।**
> **अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्।। 334।।**

यथा कादम्बर्यादिः।

कथा में सरसवस्तु गद्यों द्वारा ही बनायी जाती है। इसमें आर्या, वक्त्र एवं अपरवक्त्र छन्द होते हैं। प्रारम्भ में पद्यों से देवतादि को नमस्कार किया जाता है। दुर्जनादि के चरित्र का वर्णन होता है, जैसे – कादम्बरी आदि।

कथा कवि कल्पित होती है। कुछ सत्यांश भी होता है। इसमें भाषा संस्कृत या प्राकृत आदि होती हैं। इसमें केवल गद्य में रचना होती है। इसका वक्ता नायक स्वयं होता है या अन्य कोई भी हो सकता है। इसमें स्वचरित का वर्णन नहीं होता। उच्छ्वासों में विभाजन नहीं होता। कथा में वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग नहीं होता। आचार्य विश्वनाथ का मानना है कि कहीं-कहीं पर इन छन्दों का तथा आर्या का प्रयोग हो भी सकता है। कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ एवं प्राकृतिक वर्णन होता है।

आख्यायिका –

आख्यायिका कथा के समान होती है। इसमें कविवंश का वर्णन होता है। अन्य कवियों का वृतान्त तथा पद्य भी कहीं-कहीं रहता है। आख्यायिका 'आश्वास' में विभक्त होता है। इसमें आर्या, वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों के द्वारा अन्योक्ति के माध्यम से आश्वास के आरम्भ में आगामी कथा की सूचना प्रदान की जाती है। जैसे हर्षचरित पंचतन्त्रादि।

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्।।334।।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्।।335।।
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।

यथा– हर्षचरितादिः।

'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्'। इति दण्ड्याचार्यवचनात् केचित् आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः, तदयुक्तम्। आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः।

यदुक्तं दण्डिनैव–

'अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः'। इति।

एषामुदाहरणम्– पंचतन्त्रादि।

कुछ आचार्यों ने कहा है कि– आख्यायिका नायक के द्वारा ही निबद्ध होती है। यह उपयुक्त नहीं है, जैसा कि आचार्य दण्डी ने कहा है– किन्तु अनियमन देखा गया है अर्थात् आख्यायिका नायक के द्वारा निबद्ध होती है– यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि

यह दूसरे लोगों के द्वारा भी कही गयी है। कथा एवं आख्यायिका में अन्तर्भाव होने के कारण आख्यान आदि पृथक् नहीं कहे गये हैं। जैसा कि दण्डी ने कहा है – शेष आख्यान, जाति आदि इन्हीं में अन्तर्भूत होंगे। इनके उदाहरण हैं पंचतन्त्रादि।

यह ऐतिहासिक घटना पर निर्भर होती है। इसकी भाषा केवल संस्कृत होती है इसका विभाजन उच्छ्वासों में होता है। वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों के द्वारा भावी घटना की सूचना दी जाती है। इसमें कहीं-कहीं पद्यों का भी प्रयोग होता है। स्वचरित एवं अन्य कवि चरित का वर्णन होता है। नायक स्वयं वक्ता होता है यह आत्मकथा के रूप में होती है। (आचार्य रुद्रट नायक को ही वक्ता होना आवश्यक नहीं मानते)। कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ एवं प्राकृतिक वर्णन नहीं होता।

गद्य के अवान्तर भेद –

समास के प्रयोग तथा वृत्तिभाग के निवेश की दृष्टि से गद्य के चार भेद माने जाते हैं– 1. मुक्तक, 2. वृत्तगन्धि, 3. उत्कलिकाप्राय, 4. चूर्णक।

समास से रहित गद्य रचना को मुक्तक कहते हैं। जहाँ गद्य में छन्द के अंश आ जाये उसे वृत्तगन्धि कहते हैं। लम्बे समासों से युक्त गद्य उत्कलिकाप्राय कहलाता है। अल्प समासों से युक्त गद्य को चूर्णक कहा जाता है।
आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार कहा है–

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्।।331।।
अन्यद् दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम्।

'वृत्तगन्धि' गद्य वस्तुतः पद्य प्रयोग का नामान्तर है यह कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं है शेष तीनों गद्य के भेद बाण आदि कवियों के द्वारा प्रयुक्त हुये हैं।

अग्निपुराण में इन दो भेदों के अतिरिक्त खण्डकथा, परिकथा और कथानिका नामक भेद भी किये गये हैं। पं अम्बिकादत्त व्यास ने 'उपन्यास' नामक भेद भी माना है। उपन्यास और लघुकथा के रूप में आज भी गद्य रचना होती है। छन्द के बन्धन से रहित पद समूह को गद्य कहते हैं। यह गद्य चार प्रकार का होता है– आचार्य विश्वनाथ साहित्यदर्पण में गद्य का लक्षण देते हुए कहते हैं –

अथ गद्यकाव्यानि। तत्र गद्यम् –

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं, मुक्तकं वृत्तगन्धि च ।।330।।

भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्।
आद्यं समासरहितं, वृत्तभागयुतं परम्।।331।।
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं, तुर्यं चाल्पसमासकम्।।
कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।।332।।

मुक्तकं यथागुरुर्वचसि– इत्यादि। वृत्तगन्धि यथा मम– 'समरकण्डूलनिविडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिजिंनीटंकारोज्जागरितवैरिनगर' इत्यादि। अत्र 'कुण्डलीकृतकोदण्ड'– इत्यनुष्टुब्वृत्तस्य पादः, 'समरकण्डूल' इति च प्रथमाक्षरद्वयरहितस्तस्यैव पादः।

उत्कलिकाप्रायं यथा ममैव– 'अणिसविसुमरणिसिदसरविसरविदलिदसमरपरिगदपवरपरवल'– इत्यादि।

चूर्णकं यथा मम– 'गुणरत्नसागर! जगदेकनागर! कामिनीमदन्! जनरंजन'। इत्यादि।

गद्यकाव्यों का निरूपण करते हैं। उनमें गद्य– जिनमें छन्दलेशमात्र भी न हो उसे गद्य कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है– मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय तथा चूर्णक। इनमें पहला मुक्तक– समास रहित, दूसरा छन्द के अंश से युक्त, तीसरा उत्कलिकाप्राय– दीर्घसमास से पूर्ण तथा चौथा चूर्णक– अल्पसमासवाला होता है। मुक्तक जैसे– 'गुरुर्वचसि' इत्यादि।

वृत्तगन्धि जैसे– (मेरा– विश्वनाथ का) 'समरकण्डूल' इत्यादि। युद्ध की खुजली के कारण निविड भुजदण्डों के द्वारा कुण्डलीकृत धनुष की प्रत्यंचा के टंकार से शत्रु नगरों की नींद हराम करने वाले राजन्। यहाँ 'कुण्डतीकृतकोदण्ड' में अनुष्टुप् छन्द का चरण अंश है। 'समरकण्डूल' में भी पहले के दो अक्षरों से रहित अनुष्टुप् का ही अंश है।

उत्कलिकाप्राय– जैसा कि मेरा ही 'अणिस' इत्यादि। निरन्तर प्रसरणशील एवं तीक्ष्ण बाणों के गिरने से युद्धभूमि में इकठ्ठे श्रेष्ठ शत्रु सैनिकों को नष्ट कर देने वाले (हे राजन्!) इत्यादि।

चूर्णक जैसे (मेरा) गुणरत्नसागर्! जगत् में एकमात्र चतुर! कामिनियों के कामदेव! जनों का रंजन करने वाले राजन्! इत्यादि।

1. **मुक्तक** – मुक्तक समास से रहित गद्य होता है। यथा– 'गुरुर्वचसि-पृथुरुरसि' इत्यादि। इसमें प्रत्येक पद्य मुक्त होता है।
2. **वृत्तगन्धि** – पद्य के अंश से युक्त गद्य वृत्तगन्धि कहलाता है। **जैसे– समरकण्डूलनिविडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिजिंनीटंकारोज्जागरितवैरिनगर.... इत्यादि।**

   यहाँ 'कुण्डलीकृतकोदण्ड' पद अनुष्टुप् छन्द का चरण है और समरकण्डूल पद भी पहले के दो अक्षरों को हटा देने पर अनुष्टुप् छन्द का चरण बन जाता है।
3. **उत्कलिकाप्राय** – दीर्घ समास से युक्त गद्य को उत्कलिकाप्राय कहते हैं। जैसे–'अणिसविसुमरनिशितशरविसरविदलितसमरपरिगतप्रवरपरबलः' (अनिशविसृमरनिशितशरविसरविदलितसमरपरिगतप्रवरपरबल..) इत्यादि।प्रस्तुत गद्य में लम्बा समस्त पद परिलक्षित होता है।
4. **चूर्णक**– दो या तीन पदों के छोटे-छोटे समास वाले गद्य को चूर्णक कहते हैं। जैसे– गुणरत्नसागर, जगदेकनागर, कामनीमदन, जनरंजन, इत्यादि। यहाँ अल्प समास वाले पद स्पष्ट दिखाई देते हैं।

15.2.2 मुक्तक

जो केवल सुना जा सके– जिनका रंगमंच पर अभिनय न हो सके उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। इनके दो भेद होते हैं। गद्य एवं पद्य। छन्दबद्धकाव्यों को पद्य कहते हैं। जिसमें और पद की अपेक्षा नहीं रहती है उसे मुक्तक कहते हैं। मुक्तक मुक्त या स्वतन्त्र हुआ करते हैं।

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा।।313।।

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्केनमुक्तकम्।

तत्र मुक्तकं यथा मम –

सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमजं यद्योगिनोऽपि क्षणं

साक्षात्कर्तुमुपासते प्रति मुहुर्ध्यानैकतानाः परम्।

धन्यास्ता मथुरापुरीयुवतयस्तद्ब्रह्म याः कौतुका–

दालिङ्गन्ति समालपन्ति शतधाऽकर्षन्ति चुम्बन्ति च।।

15.2.3 युग्मक

जिस पद्यमय काव्य में दो पद्यों की परस्पर अपेक्षा रहे उसे युग्मक कहते हैं।

द्वाभ्यां तु युग्मकं सान्दानितक त्रिभिरिष्यते।।314।।

कलापकं चतुर्भिश्च पंचभिः कुलकं मतम्।

दो श्लोकों का परस्पर सम्बन्ध रहने से निम्नलिखित पद्य युग्मक का उदाहरण है–

युग्मकं यथा मम –

किं करोषि करोपान्ते कान्ते! गण्डस्थलीमिमाम्।

प्रणयप्रवणे कान्तेऽनैकान्ते नोचिताः क्रुधः।।

इति यावत्कुरङ्गाक्षीं वक्तुमीहामहे वयम्।

तावदाविरभूच्चूते मधुरो मधुपध्वनिः।।

जैसे– नायक मित्र से कह रहा है–

हे प्रिये! तुम हाथ पर (अपनी) इस कपोलस्थली को क्यों रखते हो? प्रेमासक्त अनन्य परायण कान्त के ऊपर क्रोध करना उचित नहीं है। (हे मित्र!) मैने ज्यों ही उस मृगनयनी से इस प्रकार कहने की कामना की त्यों ही आम्र वृक्ष पर मधुर भ्रमर ध्वनि होने लगी। इसी प्रकार अन्य आदि का भी उदाहरण समझना चाहिए।

15.2.4 महाकाव्य

महाकाव्य का उद्भव एवं विकास –

संस्कृत महाकाव्य के स्वरूप का सर्वप्रथम बीज ऋग्वेद में प्राप्त होता है। यह ऋग्वेद के दान-सूक्तों, संवादसूक्तों, आख्यानसूक्तों स्तुतियों में यथा– इन्द्र, विष्णु, वरुण, उषा आदि में पाया जाता है। इसके बाद ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों एवं उपनिषदों में भी संवाद, अवतरण एवं दृष्टान्त प्राप्त होते हैं जो महाकाव्य के उद्भव के स्रोत के प्रारम्भिक प्रक्रिया में सहायक होते हैं। काव्य या महाकाव्य के उद्भव का वास्तविक प्रेरणास्रोत वाल्मीकिकृत रामायण ही है। वाल्मीकि को 'आदिकवि' एवं रामायण को 'आदिकाव्य' कहा जाता है। रामायण को ही आधार मानकर अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि कवियों ने अपने-अपने महाकाव्यों का विकास किया। इसके बाद महाभारत को भी महाकाव्य

कहा जाता है। जो परवर्ती कवियों एवं नाटककारों की रचनाओं के लिए विषय-वस्तु प्रदान किया।

जिसमें सर्गों का निबन्धन होता है उसे महाकाव्य कहते हैं। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हों नायक होता है अथवा एक वंश में उत्पन्न कुलीन अनेक राजा भी नायक हो सकते हैं। श्रृंगार, वीर, शान्त में से कोई एक रस अंगी (मुख्य) होता है। अन्य सभी रस अंग (गौण) होते हैं। इसमें नाटक की सभी मुख आदि सन्धियाँ विद्यमान रहती हैं। कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन सम्बन्धिनी होती है। पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से एक प्रधान प्रयोजन होता है।

आरम्भ में आशीर्वाद अथवा वस्तुनिर्देश रहता है। कहीं पर दुर्जनों की निन्दा और सज्जनों का गुण कीर्तन होता है। महाकाव्य के सर्गों में एक ही छन्द होता है किन्तु सर्ग का अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी होता है। इसमें न अधिक छोटे न अधिक बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। सर्ग के अन्त में आगामी कथा की सूचना होती है। इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन प्रातःकाल, मध्यान, मृगया (शिकार) पर्वत, ऋतु (छः) वन और समुद्र इत्यादि का वर्णन होता है। इसमें सम्भोग श्रृंगार, विप्रलम्भ श्रृंगार, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। इसका नाम कवि के नाम से (माघ आदि) या चरित्र के नाम से जैसे कुमारसम्भव अथवा चरित्र नायक के नाम से जैसे रघुवंश आदि के नाम से होना चाहिए। सर्ग के वर्णनीय वृत्तान्त के अनुसार सर्ग का नाम रखा जाता है। सन्धियों के अंग यथासम्भव रखना चाहिए। सर्ग की समाप्ति में अन्य छन्दों को रखना चाहिए। जलक्रीडा, मधुपानादिक सांगोपांग होना चाहिए। महाकाव्य के उदाहरण जैसे रघुवंश, शिशुपालवध रघुवंशादि।

ऋषिप्रणीत काव्य में सर्गों का नाम आख्यान होता है, जैसे महाभारत। प्राकृत काव्यों में सर्गों का नाम 'आश्वास' होता है। इसमें स्कन्धक या कहीं गलितक छन्द होते हैं जैसे सेतुबन्ध अथवा कुवलयाश्चरित। अपभ्रंश भाषा से निबद्ध महाकाव्य में सर्ग को कुडवक कहा जाता है और उसमें अपभ्रश भाषा के योग्य अनेक प्रकार के छन्द होते हैं जैसे कर्णपराक्रम।

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।।315।।

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।

एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।।316।।

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।

अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः।।317।।

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।।318।।

आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।

क्वचिनिन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।।319।।

एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।

नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।।320।।

नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।।321।।

संन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः।

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।।322।।

संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।

रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।।323।।

वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगाा अमी इह।

कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।।324।।

नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।

सन्ध्यङ्गानि यथालाभमत्र विधेयानि 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः' इति बहुवचनमविवक्षितम्।

साङ्गोपाङ्गा इति जलकेलिमधुपानादयः।

यथा– रघुवंश–शिशुपालवध–नैषधादयः।

यथा वा मम राघवविलासादिः।

अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः।।325।।

अस्मिन्महाकाव्ये। यथा – महाभारतम्।

प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः।

छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद् गलितकैरपि।।326।।

यथा– सेतुबन्धः। यथा वा मम– कुवलयाश्चरितम्।

अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन्सर्गाः कुडवकाभिधाः।

तथापभ्रंशयोग्यानि च्छन्दांसि विविधान्यपि।।327।।

यथा– कर्णपराक्रमः।

15.2.5 खण्डकाव्य

गीतिकाव्य को ही खण्डकाव्य भी कहते हैं। इसमें कवि अपनी वैयक्तिक चेतना और आनन्दवेदना की अभिव्यक्ति करता है। वेद के साथ ही रामायण या महाभारत से भी इसका उद्‌भव माना जा सकता है। गीतिकाव्य या खण्डकाव्य में जीवन के एक पक्ष अथवा घटना की अभिव्यक्ति होती है जबकि महाकाव्य में मानव जीवन के सम्पूर्ण घटनाओं का वर्णन होता है। गीतिकाव्य महाकाव्य की अपेक्षा कहीं अधिक मनोरम बन जाता है क्योंकि इसमें कल्पना की कमनीयता, भावों की सुकुमारता और पद्यों की हृदयहारिणी गेयता का अभिनव सामंजस्य प्रस्फुटित होता है। खण्डकाव्य (गीतिकाव्य) का उदाहरण –महाकवि कालिदास का 'मेघदूत' एवं ऋतुसंहार आदि श्रृंगारिक गीतिकाव्य के उदाहरण हैं। धार्मिक गीतिकाव्य में पण्डितराज जगन्नाथ के सुधालहरी, अमृतलहरी, गंगालहरी, लक्ष्मीलहरी आदि प्रमुख हैं। भाषा (संस्कृत, प्राकृतादि) या विभाषा (शौरसेनी, बाह्लिकादि प्राकृत भाषा) के नियम के अनुसार रचित पद्ययुक्त सर्ग से रहित जिसमें सब सन्धियाँ न हों ऐसे प्रबन्ध को काव्य कहते है, जैसे –भिक्षाटन एवं आर्याविलास।

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम्।

एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्रयवर्जितम्।।328।।

यथा– भिक्षाटनम्, आर्याविलासश्च।

महाकाव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला पद्यसमूह खण्डकाव्य कहलाता है। जैसे– मेघदूत आदि।

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।

यथा– मेघदूतादि।।

काव्य के एक देश अर्थात् एक भाग का अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य कहलाता है, जैसे मेघदूत आदि।

15.2.6 चम्पूकाव्य

चम्पूकाव्य गद्य और पद्य दोनों से मिश्रित काव्य होता है। भोज ने 'रामायणचम्पू' (बालकाण्ड 3) में कहा है कि चम्पूकाव्य में गद्य और पद्य का वही सम्बन्ध है जो संगीत में गीत और वाद्य का। कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीयसंहिता तथा अथर्ववेद में गद्यपद्यात्मक शैली पाई जाती है। इसी प्रकार उपनिषदों, पुराणों में भी गद्यपद्य का प्रयोग मिलता है। चम्पूकाव्य का सर्वप्राचीन ग्रन्थ त्रिविक्रमभट्ट का 'नलचम्पू' जिसे 'दमयन्तीकथा' के नाम से भी जाना जाता है। इसका रचनाकाल लगभग 915 ई0 है। इसका कथानक महाभारत के 'नलोपाख्यान' में वर्णित है। नलचम्पू में सात उच्छ्वास हैं। जैन-कवि सोमदेवसूरि ने 959ई0 में 'यशस्तिलकचम्पू' की रचना की। भोज (1018-1063ई0) ने 'रामायणचम्पू' की रचना की। इसी प्रकार अन्य चम्पूकाव्य भी हैं।

जिसमें गद्य और पद्य दोनों हों उस काव्य को चम्पू कहते है, जैसे देशराजचरितादि।

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।।336।।

यथा–देशराजचरितम्।।

15.3 सारांश

आप जानते हैं कि साहित्यदर्पण एक काव्यशास्त्रीय गन्थ है। इस ग्रन्थ में आचार्य विश्वनाथ ने काव्य एवं नाट्य के सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है। गद्यकाव्य कथा एवं आख्यायिका के भेद से दो प्रकार का होता है। इसके अतिरिक्त मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक भी गद्यकाव्य के अवान्तर भेद हैं जिसका अध्ययन आपने इस इकाई में किया है। आपने मुक्तक एवं युग्मक काव्य के लक्षण एवं उदाहरणों का अध्ययन किया तथा यह जाना कि मुक्तक एवं युग्मक काव्य क्या हैं? आप जानते हैं कि सर्गबद्ध रचना महाकाव्य कहलाती है, जिसका नायक धीरोदात्त प्रकृति का होता है। इसका इतिवृत्त ऐतिहासिक तथा लोकप्रसिद्ध होता है। आपने इस इकाई में खण्डकाव्य का लक्षण पढ़ा जिसके अनुसार महाकाव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला पद समूह खण्डकाव्य कहलाता है। गद्य तथा पद्य से युक्त

काव्य को चम्पू काव्य कहते हैं। इस प्रकार इस इकाई में आपने काव्य एवं उसके भेदों का विस्तृत अध्ययन किया।

15.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- साहित्यदर्पणम्,व्याख्याकार आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2010
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकारः पं. हरेकान्तमिश्रः, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली,2017
- साहित्यदर्पणः, व्याख्याकार श्रीशालिग्रामशास्त्रि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,1986।
- साहित्यदर्पण–विश्वनाथ, (व्याख्याकार)सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1988
- संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, रामनारायणलाल, विजयकुमार, कटरा, प्रयागराज।

15.5 अभ्यास प्रश्न

1 मुक्तक का लक्षण देते हुए उसकी विशेषता बताइए।
2 युग्मक पर टिप्पणी लिखिए।
3 महाकाव्य का लक्षण देते हुए इस पर प्रकाश डालिए।
4 खण्डकाव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।